15F
00770

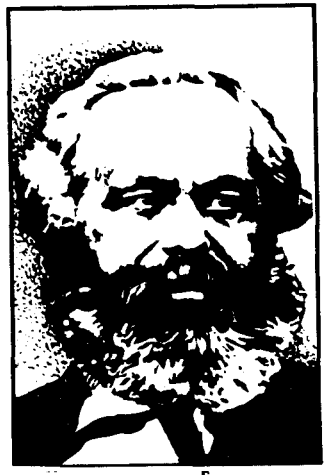

जन्म 5 मई 1818

जन्म 22 अप्रैल 1870

मार्क्सवाद लेनिनवाद

और

हमारी आज की समस्याएं

*

ए.बी.बर्धन

*

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का प्रकाशन

अप्रैल 1994

मूल्य : 3 रुपये

न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, रानी झाँसी रोड नयी दिल्ली से प्रतुल लाहिड़ी द्वारा मुद्रित और उन्हीं के द्वारा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी अजय भवन, 15, कोटला मार्ग नयी दिल्ली 110002 के लिए प्रकाशित।

विषय सूची

1.	मार्क्सवाद-लेनिनवाद : सामाजिक रुपान्तरण का एकमात्र वैज्ञानिक सिद्धान्त	2
2.	विचारधारा की ज़रुरत : सिद्धान्त और व्यवहार में एकता	3
3.	सीपीआई की प्रतिबद्धता और लक्ष्य	4
4.	मार्क्सवाद-लेनिनवाद का नवीकरण	5
5.	भारतीय दार्शनिक विचार और मार्क्सवादी दर्शन	9
6.	द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	12
7.	विजातीय विचारधाराओं के खिलाफ संघर्ष	13
8.	पूंजीवादी विकास के नियम	15
9.	नव-उदारतावाद : साम्राज्यवाद का नया चेहरा	16
10.	विकासशील देशों के खिलाफ साम्राज्यवाद के हमले	19
11.	वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त : नये आयाम	22
12.	क्या वर्ग संघर्ष रूक गया है ?	28
13.	वर्ग और जाति	30
14.	जातिवाद के खिलाफ संघर्ष	36

प्रस्तावना

यह पुस्तिका कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में अपनी कुछ बुनियादी सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को दोहराने का ही एक प्रयास है।

पार्टी के सांगठनिक सम्मेलन में और पार्टी की पिछली नेशनल कौंसिल की बैठक ने मार्क्स और लेनिन के जन्मदिवसों के अवसर पर उनकी स्मृति को समर्पित एक विचारधारात्मक अभियान चलाने का आवाहन किया था।

लेकिन, निश्चय ही, यह काम एक पखवाड़े - अर्थात 22 अप्रैल से 5 मई - तक का नहीं है। पार्टी के लिए यह एक अनवरत और निरन्तर चलने वाला काम है।

दुर्भाग्य से इसकी उपेक्षा की जाती रही। इसके अलावा, हाल की घटनाओं ने करारे झटकों की एक झड़ी सी लगायी है, जिसके चलते अनेक लोग विचारधारात्मक तौर पर दिग्भ्रमित हुए हैं और उनके रूझान भी बदले है।

पुस्तिका में जो कुछ लिखा गया है उसके बारे में मौलिकता का कोई दावा नहीं है। यह उन बातों का पुनर्वक्तव्य है जो ज्ञात हैं - हाँ इन्हें मौजूदा परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में दोहराया गया है ताकि पार्टी कार्यकर्ताओं, कतारों और भविष्य के रूप में समाजवाद में यक़ीन रखने वालों को लाभ पहुँच सके। ध्येय को पूँजीवादी प्रचारतंत्र पर्याप्त नुकसान पहुँचा चुका है। अब जवाबी लड़ाई लड़ी जानी है।

फिर भी कुछ मामले हैं - मसलन वैज्ञानिक तकनीकी क्रांति का वर्ग संघर्ष पर प्रभाव, सरकार की नयी नीतियों का प्रभाव, साम्राज्यवादी हमले के नये स्वरूप, हमारे समाज में वर्ग और जातीय विभेदीकरण की भूमिका, इनका एक दूसरे पर असर, उत्पीड़ित ज़ातियों के संघर्ष के साथ वर्ग-संघर्ष को जोड़ना इत्यादि जिन पर इस पुस्तिका में मार्क्सवादी दृष्टिकोण से चर्चा की गयी है।

यदि यह पुस्तिका बहस में ज़रा भी उपयोगी होती है तो इसके उद्देश्य की पूर्ति हो जाएगी। आपकी आलोचनाओं भले ही वे कितनी भी तीखी हों - और सुझावों का हम स्वागत करेंगे।

दिल्ली 17 अप्रैल 1994 **ए.बी. बर्धन**

1

मार्क्सवाद लेनिनवाद : सामाजिक रूपान्तरण का एकमात्र वैज्ञानिक सिद्धान्त

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई 1818 में हुआ था। अपने आजीवन मित्र और सहयोगी **फ्रेड्रिक एंगेल्स** (1820-1895) के साथ मिलकर उन्होंने एक नयी वैज्ञानिक क्रांतिकारी विचारधारा विकसित की, जिसने मज़दूर-वर्ग तथा मेहनतकश और उत्पीड़ित अवाम के अन्य तबक़ों के हाथों में उनकी मुक्ति के लिए और जिस दुनियां में वे रह रहे हैं, उसके क्रांतिकारी रूपान्तरण के लिए एक नया हथियार सौंप दिया।

वी.आई. लेनिन 22 अप्रैल 1870 को पैदा हुए। उन्होंने इस ध्येय को और आगे जारी रखा तथा साम्राज्यवाद के दौर में मार्क्स के सिद्धान्त को और आगे बढ़ाया और अपनी व्यावहारिक क्रांतिकारी गतिविधियों के ज़रिये रूस की धरती पर '**अक्तूबर क्रांति**' (7 नवम्बर 1917) को जन्म दिया और कामयाबी की मंज़िल तक पहुंचाया। उन्होंने उत्पीड़ित औपनिवेशिक अवाम के लिए मुक्ति का मार्ग रौशन किया और समाजवाद के लिये संघर्षरत मज़दूर-वर्ग तथा ग़ुलामी की ज़ंजीरों से मुक्ति के लिए चल रहे अवामी संघर्षों के बीच एकजुटता के मज़बूत रिश्ते क़ायम किये।

उनके (मार्क्स और लेनिन) नामों से जुड़े क्रांतिकारी वैज्ञानिक सिद्धान्त को हम **मार्क्सवाद-लेनिनवाद** के नाम से जानते हैं।

यही वह विचारधारा है जिसने एक पूरी सदी के दौरान दुनियाँ के सभी देशों के लाखों-करोड़ों लोगों के दिमाग़ों को उद्वेलित करता रहा और मानवता के समाजवादी और कम्युनिस्ट भविष्य के प्रति आशाएं और आस्थाएं जगायीं।

इस बात से इन्कार नहीं, कि इन आशाओं और आस्थाओं को एक गहरा धक्का तब लगा जब सोवियत संघ बिखर गया और पूर्वी योरोप के भूतपूर्व समाजवादी देशों की व्यवस्थाएं चरमा गयीं। हर जगह साम्राज्यवादियों और पूंजीवादियों ने कान फोड़ू फतवे देने शुरु कर दिये कि 'मार्क्सवाद की मौत हो गयी है', कि 'समाजवाद का कोई भविष्य ही नहीं है' कि 'पूंजीवाद और बाज़ार अर्थतंत्र विजयी हुआ है' और अब भविष्य इसी के हाथ में सुरक्षित है। और कुछ लोगों ने यहाँ तक कह दिया कि विचारधारा ही खत्म हो गयी है और इतिहास भी खत्म हो गया है। कुछ ऐसे भी रहे जो दिली तौर पर डगमगा गये और जिनकी आस्थाएं अपने-अपने ध्येयों के विजय के प्रति बुरी तरह हिल उठीं।

पूर्व के सोवियत संघ और कुछ अन्य भूतर्पूव समाजवादी देशों में समाज़वाद के निर्माण

के दौरान जो ग़लतियां और तोड़ मरोड़ की गयी उनसे दिगभ्रमित होकर अब वे "विचारधारा विहीनता की बात करने लगे है।", "एक के बाद दूसरे क्षेत्रों को विचारधारा की जकड़बंदी से आज़ाद करके, अंततः वे पार्टी और मज़दूर वर्ग को अस्त्र रहित करने और उन्हें अस्तव्यस्तता के आलम में फेंक देने की चर्चा करने लगे हैं।

हर साल लेनिन के जन्मदिन से मार्क्स के जन्मदिन को अर्थात 22 अप्रैल से 5 मई तक- हम इन महान नेताओं की याद में वैचारिक पुर्नजीवन और नवीनीकरण के पखवाड़े के रूप में मनाते हैं। इस मौक़े पर हम अपने आपसे यह सवाल पूछेंगे : अगर हम मौजूदा आर्थिक शोषण, राजनीतिक ग़ुलामी और सामाजिक उत्पीड़न की व्यवस्था को खत्म करने के खवाहिशमंद हों तो, क्या कोई दूसरी वैज्ञानिक विचारधारा है जो हमारी गतिविधियों के मार्गदर्शन हेतु मार्क्सवाद-लेनिनवाद की विचारधारा का स्थान ले सकती है ? क्या कोई अन्य सुसंगत और अनुकूल विचारधारा है जो उत्पीड़ितों को ग़रीबी और बीमारी की लानतों से, अशिक्षा और उपेक्षा से भ्रष्टाचार और बेरोज़गारी से मुक्ति का रास्ता दिखाती है और एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था लाती है, जो अधिक न्यायोचित और मानवीय है ?

2

विचारधारा की ज़रूरत : सिद्धान्त और व्यवहार की एकता

मेहनतकश अवाम के लिए, और उस पार्टी के लिए, जो उनकी मुक्ति के लिए काम करने का दावा करती है, विचारधारा की ग़ैर-मौजूदगी अथवा एक विचारधारात्मक शून्य की स्थिति का अर्थ यही हो सकता है कि हुक्मरां वर्ग की विचारधारा के सामने पूर्ण समर्पण कर दिया जाय और उसका ग़ुलाम बन जाया जाय, जिसके लिये आज साम्राज्यवादियों और स्थानीय पूँजीवादियों के नियंत्रण वाले जन-संचार माध्यम ज़ोर-शोर से प्रचार कर रहे हैं। विचारधारात्मक विजय के बिना कोई भी वास्तविक और व्यावहारिक विजय हो ही नहीं सकती।

मार्क्स ने कहा था : क्रांतिकारी सिद्धान्त के बिना क्रांतिकारी अमल नहीं हो सकता। और यह बात आज भी उतनी ही सच है जितनी उस वक्त थी।

'सिद्धान्तविहीन व्यवहारवाद' और इसी के साथ ही साथ निचले और कमज़ोर तबक़ों के कल्याण और सामाजिक न्याय के बारे में लगातार पाखंड भरे और बड़बोले नारे लोगों के दिमग़ों को कुछ समय तक के लिए तो चकाचौंध कर सकते हैं और क्षणिक नतीजे भी पैदा कर सकते हैं। लेकिन ये नयी सामाजिक व्यवस्था का द्वार खोलने वाले अग्रदूत क़तई नहीं हो

सकते। ऐसे लोगों के पास न लक्ष्य ही स्पष्ट है और न तो लक्ष्य की ओर ले जाने वाला रास्ता ही है। न ही वे क्रांतिकारी शक्तियाँ ही हैं जो इसके लिए काम करेंगी। यह तो महज़ धारा के साथ ही बहने जैसा है और जिसके बारे में नहीं मालूम कि वह हमें कहाँ ले जायगा ?

जीवन में, व्यक्तिगत अथवा पार्टी में किसी को भी वास्तविक और व्यवहारिक होना चाहिए और उसके दोनों पाँव ज़मीन पर सख्ती से जमे होने चाहिए। लेकिन यह क़तई ठीक नहीं है कि स्वयं 'व्यवहारवाद' को सिद्धान्त में तब्दील कर दिया जाय और उसे महिमामंडित किया जाय। व्यवहार और सिद्धान्त को साथ-साथ आगे बढ़ाना है अन्यथा व्यवहार पतवार विहीन और दिशाविहीन हो जायगा। दूसरी तरफ सिद्धान्त को व्यवहार से ही पैदा करना है, व्यवहार में ही उसे साबित कर दिखाना है और व्यवहार के ज़रिये ही उसे सामान्य नियम बनाना और समृद्ध करना है। अन्यथा यह जीवन रहित हो जायगा। व्यवहार और सिद्धान्त की मुकम्मल एकता मार्क्सवाद का बुनियादी सिद्धान्त है।

व्यवहार सिद्धान्त के अमल की कसौटी है और अनुभव एक बेहतरीन शिक्षक होता है। जैसा कि संत तुकाराम ने कहा:

'क्वाँरी औरत को क्या पता कि बच्चा कैसे जना जाय। अनुभव का कोई दूसरा विकल्प हैं ही नहीं।'

3

भाकपा की प्रतिबद्धता और लक्ष्य

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने ताज़ातरीन **कार्यक्रम सम्बन्धी दस्तावेज** में फिर दोहराया है कि :

"पार्टी की समझ है कि सुसंगत जनवाद और समाजवाद के रास्ते की रुपरेखा तैयार करने के लिए मार्क्सवाद लेनिनवाद का विज्ञान अपरिहार्य है। पार्टी चीज़ों को समझने और भारतीय समाज को बदलने में मार्क्सवादी तौर-तरीक़ों (प्रणाली) का इस्तेमाल एक औज़ार के रुप में करती है। कठमुल्लावाद और जड़ सोच को ठुकराते हुए यह विज्ञान भारत की क्रांतिकारी विरासत से मार्ग दर्शन लेती है। हमारा रास्ता हमारे देश की खास क़िस्म की विशिष्टताओं और लक्षणों, इसके इतिहास, परम्पराओं, संस्कृति, सामाजिक बनावट और विकास के स्तर के मुताबिक़ तय होगा।"

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने पुरज़ोर अंदाज़ में समाजवाद को भारत का भविष्य घोषित किया है। अपने पार्टी संगठन के बुनियादी दस्तावेज़ **संविधान** के ताज़े संस्करण में — इसने घोषित किया है :

"भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी भारतीय मज़दूर-वर्ग की राजनीतिक पार्टी है। यह समाजवाद और साम्यवाद के ध्येय के प्रति समर्पित मज़दूरों, किसानों और आम मेहनतकश आवाम, बुद्धिजीवी-वर्ग और दीगर लोगों का स्वैच्छिक संगठन है।

"भारतीय कम्युनिस्ट पाटी एक न्यायपूर्ण समाजवादी समाज बनाने के प्रति कृत संकल्प है, जहाँ सभी के लिए समान अवसर उपलब्ध हों और जहाँ जनवादी अधिकारों की गारंटी सुनिश्चित हो– और इसी से जातीय, वर्गीय, लैंगिक शोषण और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण समेत सभी प्रकार के शोषणों का खात्मा करने का मार्ग प्रशस्त होगा – एक ऐसा समाज बनेगा जहाँ करोड़ों मेहनतकशों द्वारा पैदा की गयी दौलत को चंद मुठ्ठी भर लोगों द्वारा हड़पने की इजाज़त हरगिज़ न दी जायगी। एक ऐसी नयी समाजवादी व्यवस्था का रास्ता तैयार करने के लिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद की विचारधारा अपरिहार्य है....। "समाजवाद के निर्माण के लिए समाजवादी जनवाद पर आधारित मेहनतकश अवाम द्वारा सत्ता प्राप्त करने का लक्ष्य हासिल करना अनिवार्य है। मेहनतकश और उनके ऐतिहासिक मिशन के प्रति अटल निष्ठा के साथ सी पी आई इस मिशन को हासिल करने के लिए काम करेगी और भारत में एक कम्युनिस्ट समाज क़ायम करने के अपने अंतिम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ेगी।"

4

मार्क्सवाद - लेनिनवाद का नवीकरण

"जमाना चाहे कोई भी हो, यहां तक कि प्राचीन से प्राचीनतम, हर दौर में इन्सान की आँखों ने एक बेहतर दुनियाँ के ख्वाब संजोये हैं। हमारे इस देश की महान हस्तियों, चिंतकों, दूरदर्शियों, समाज सुधारकों क्रांतिकारियों और दूसरे लोगों ने उन मुसीबतों और बदहालियों पर हमेशा ही दुख प्रकट किया है, जिसके शिकार आम जन ही होते रहे हैं और दुखों और मुसीबतों से उनके उबरने का रास्ता भी सुझाया है।

हमारे **उपनिषद** काल के ऋषियों ने एक ऐसे आदर्श समाज का नक्शा पेश किया जहाँ,

"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयः

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित दुख भाग भवेत "

गौतम बुद्ध ने एक ऐसे समाज का खाका पेश किया जहां, "सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्त।"

हमारे इस दौर के ज्यादा करीब **ज्योतिब फूले** ने एक ऐसे समाज का उपदेश दिया, जहाँ शूद्र, अतिशूद्र और महिलाएं-शेतकारी, अदनी, बलूतेदार, कुनबी- प्रयास करें और एक नये "सत्य समाज" के लिए संघर्ष करें।

विवेकानंद ने एक शूद्र राज का, किसानों की कुटियाओं, मछुवारे की झोपड़ियों, और फैक्ट्रियों से उभरने वाले एक नये भारत का सपना देखा और उसका खाका पेश किया।

विवेकानंद को एक समाजवादी कहना थोड़ी अतिशयोक्ति हो सकती है पर इसके बावजूद यहाँ यह जानना ज़रुरी है कि स्वयं विवेकानंद ने साहस के साथ घोषित किया था : मैं एक समाजवादी हूं, इसलिए नहीं कि मैं यह समझता हूं कि यह एक पूर्णकालिक अथवा आदर्शव्यवस्था है बल्कि इसलिए क्योंकि पूरी रोटी न मिलने के मुक़ाबले आधी रोटी मिल जाना बेहतर है। अन्य व्यवस्थाओं की परख हो चुकी है, पर वे नाकाम रहीं।"

हमारे ऋषियों और महाकवियों ने इन्सान की महिमा के गीत गाये हैं और मानवता का संदेश दिया है : "ना ही मनुष्यत श्रेष्ठतम हि किंचित।" **चंडीदास** ने यह सूत्रवाक्य दिया : "सबर उपोरे मानुष सत्य ताहार उपरे नाइ।"

पश्चिम में भी अनेक सामाजिक चिंतकों ने, जो पूंजीवादी व्यवस्था के आलोचक रहे हैं, ऐसे विचारों और कल्पनाओं को सामने रखा है, जिनकी बुनियाद पर समाज का भविष्य होना चाहिए। उन्होंने ऐसे आदर्श समाज के नमूने भी पेश किये जिनमें आधा मर्सिया था तो आधे में सुनहरे अतीत की प्रतिध्वनि और फिर आधे में आत्माविहीन पूंजीवादी व्यवस्था की आलोचना। लेकिन ऐसे स्वप्नदर्शी समाजवादी इस बात के लिए कोई व्यवहारिक रास्ता न दिखा सके कि कैसे इन सपनों को साकार किया जाय और कैसे वे मौजूदा व्यवस्था से उभर कर ऊपर आएंगे!

कम्युनिस्ट घोषणापत्र में ही मार्क्स और एंगेल्स ने ये बताया कि ये सभी काल्पनिक समाजवादी आधुनिक इतिहास के मार्च को समझ नहीं सके।

यह मार्क्स के बताये हुए रास्ते का ही नतीजा था कि आधुनिक समाजवाद ने एक असल और वैज्ञानिक आधार हासिल किया।

असली समाजवाद तो मार्क्स एंगेल्स और लेनिन का समाजवाद है। मार्क्स के समाजवाद के मुताबिक़ "समाजवाद अब कोई इस या उस उम्दा क़िस्म के दिमाग़ की कोई आकस्मिक खोज नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक तौर पर विकसित वर्गों– सर्वहारा और पूंजीपति – के बीच संघर्ष का अनिवार्य नतीजा है।" (एंगेल्स)

समाजवाद अब समाज के शोषकों के खिलाफ बढ़ते हुए जुझारु वर्गों और उनके वर्ग संघर्ष का लक्ष्य बन गया है। वे पार्टियां जिन्होंने इसे अपने परचम पर अंकित किया है, क्रांतियों का नेतृत्व किया है और बेशुमार और अनकही कुर्बानियाँ दी हैं, भयावह शिकस्तों और दिल-शिकन सदमों के बावजूद लगातार इस लक्ष्य की ओर मार्च करते रही है। अर्थात समाजवाद अब सामाजिक प्रगति का लक्ष्य बन गया है।

तक़रीबन एक सदी से भी ज्यादा पहले, खून के प्यासे फ्रांसिसी पूंजीपतियों ने प्रूसियन आर्मी की सहायता से **पेरिस कम्यून** (1871) को खून में डुबो दिया था। इसके बाद उन्होंने सरेआम ऐलान भी किया था कि "अब हमने एक लम्बे अर्से तक के लिए समाजवाद को खत्म कर दिया है।"

लेकिन इस घोषणा के 6 वर्षों के बाद ही "जब इस के (पेरिस कम्यून) अनेक योद्धा अभी भी कठोर कारावास की सज़ा भुगत रहे थे अथवा निर्वासन में थे, फ्रांस में एक नये मज़दूर आंदोलन का उदय हुआ। अपने पूर्व-वर्तियों के अनुभव से लैस समाजवादियों की एक नयी पीढ़ी ने, जो उनके शिकस्त से क़तई हतोत्साहित नहीं थी, उस परचम को उठा लिया, जो छूट गया था।" (लेनिन)

इसके ठीक 100 सालों बाद पूर्वी योरोप और स्वयं सोवियत संघ में समाजवाद ढह गया। फिर एक बार सभी देशों के साम्राज्यवादी और स्थानीय पूंजीपति फूले न समाये और उन्होंने ऐलान कर डाला, "समाजवाद मर गया है।" भूतपूर्व समाजवादी देशों में विश्वासघातियों और साम्राज्यवाद के दलालो ने स्वयं अपने देशों में सभी क़िस्म के प्रतिरोधों को कुचलने पर आमादा हो गये। यहां तक कि अपने देशों के संसद भवनों को तोपों और टैंकों का निशाना बनवा दिया।

लेकिन ज्यादा वक्त नहीं लगा और थोड़े ही समय में नये ढंग से वामपंथी और समाजवादी पार्टियों ने यहाँ - वहाँ चुनावों में और सड़कों पर – दोनों ही जगह– अपनी धमाकेदार वापसी का ऐलान किया। पूंजीवाद को बहाल करने के प्रयास तबाहकारी साबित होने लगे। यह वह जन्नत न थी जिसके सब्ज़बाग दिखाये गये थे। स्वयं अपने घर में पूँजीवाद संकटों-मंदियों, बेरोज़गारी, सामाजिक सुरक्षा में कटौती,– से घिरा हुआ है और ये बीमारियाँ इन सभी पूंजीवादी देशों में प्लेग की तरह फैलती जा रही है।

क्यूबा की मिसाल लीजिए। उसके खिलाफ अड़ियल और शक्तिशाली पड़ोसियों ने अमानवीय नाकेबंदी कर रखी है– इसके बावजूद क्यूबा अपनी आज़ादी, अपने इंक़लाब और समाजवाद की रक्षा करने में पूरी दृढ़ता के साथ खड़ा हुआ है।

चीन, वियतनाम और जनवादी गणतंत्र कोरिया अपने द्वारा चुने हुए समाजवाद के रास्ते पर, लगातार आगे बढ़ रहे हैं और इस उद्देश्य की खातिर ज़रूरी सुधार भी करते जा रहे हैं।

दक्षिण अफ्रीका में नस्लवाद और रंगभेदवादी सत्ता के खिलाफ तक लम्बी और वीरतापूर्ण लडाई लड़ी गई। वहाँ अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस अब विजय की ओर अग्रसर हो रहा है और इस जीत को हासिल करने में कम्युनिस्टों की भूमिका को अब सभी सराह रहे हैं, कम्युनिस्ट नेल्सन मण्डेला के नेतृत्व वाले ए.एन.सी. में ऊंचे पदों पर आसीन हैं और जब उनके एक बड़े नेता गर्व से यह घोषणा करते हैं, कि दक्षिण अफ्रीका की कम्युनिस्ट पार्टी आज वहाँ "सबसे

तेजी से आगे बढ़ने वाली पार्टी है तो इसमें किसी को कोई अचरज भी नहीं होती।

इस प्रकार समाजवाद और उसकी वैज्ञानिक विचारधारा अजेय है। इसके उद्देश्य अमर है। हर पराजय के बाद अनुभवों से सीखकर नवीनीकृत रूप में यह फिर से ऊपर उठता है। यह इसलिये, क्योंकि दूसरे सिद्धान्तों के मुकाबले में मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन द्वारा प्रतिपादित समाजवादी सिद्धान्त् ही केवल मज़दूरों, किसानों की बदहाली एवं नौजवानों बुद्धिजीवी तथा दूसरे लोगों के वर्तमान व्यवस्था के प्रति असन्तोष के कारणों को उद्घाटित करता है।

मानवतावाद और न्याय के आदर्श, जिन्हें अवाम और दूसरों ने एक ज़माने से संजोये हैं, मार्क्सवाद में भरपूर इज़हार पाते हैं। और यही वजह है कि समाजवाद और उसके सिद्धान्त दुनिया भर के लोगों को अपील करते हैं, आकर्षित करते हैं।

"मार्क्स ने अपने समूचे कार्य की बुनियाद मानवीय ज्ञान की उन दृढ़ प्रस्थापनाओं को बनाया जो उन्होंने पूंजीवाद के तहत हासिल की।"(लेनिन)

मार्क्स ने न केवल दुनिया की व्याख्या ही की, जैसा कि अब तक के दार्शनिकों और उनकी व्यवस्थाओं ने किया और करते हैं, बल्कि उसे बदलने के मुद्दे को ज़ोर देकर उजागर किया। मार्क्सवाद बताता है कि दुनिया को कैसे बदला जाय।

लेकिन मार्क्स और लेनिन के समय से दुनियाँ अब तक बहुत बदल चुकी है। मानव ज्ञान के भण्डार में भी इस बीच अकल्पनीय बढ़ोत्तरी हुई है। एक सशक्त वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति ने धरती को अपने आगोश में ले लिया है। कई देशों में क्रांति और प्रतिक्रांतियां हुई हैं। साम्राज्यवाद की बेड़ियों को काटकर उपनिवेशों ने आज़ादी हासिल की। जनवादी आन्दोलनों के फैलाव ने ऐसे ढेर सारे सोये हुए लोगों को जगा दिया है, जो अब तक वंचित थे और अब अपने देश और समाज की नियति को खुद तय करना चाहते हैं। वे सत्ता में भी बराबरी के हक़ की मांग कर रहे हैं। हर देश के सामने नई चुनौतियां और समस्याएं मुंह बाए खड़ी हैं, जिन्हें व्यावहारिक रूप से हल किया जाना ज़रुरी हो गया है।

मार्क्सवाद के विज्ञान को विज्ञान, तकनालॉजी और ज्ञान की इन उपलब्धियों को आत्मसात करना होगा। इसे ज़िन्दगी की रफतार के साथ क़दम मिला कर चलना होगा। हमारे देश की विशिष्टताएं, इतिहास, प्रगतिशील परम्परा और संस्कृति तथा नित-नवीन सामाजिक वास्तविकताओं के साथ भी इसे घुल-मिल जाना होगा। क्रांतिकारी व्यवहार और अनुभवों के आधार पर हमें मार्क्सवाद को विकसित तथा और अधिक संवर्धित करना होगा।

मार्क्सवाद वास्तविक परिस्थिति को समझने का एक औज़ार है। इसके सिद्धान्त कार्यवाई के मैदान में हमें रास्ता दिखाते हैं। लेकिन ज़ात-पांत या साम्प्रदायिक और विघटनकारी ताक़तों द्वारा धर्म को राजनीति में मिलाने जैसी सामाजिक वास्तविकताओं का हमें स्वतत्र रूप से

जांच-पड़ताल, विश्लेषण और मूल्यांकन करके एक ठोस रणनीति तैयार करना होगा। मार्क्स और लेनिन की किताबों से अलग-थलग रुप से ली गयी उक्तियाँ इन समस्याओं को हल नहीं कर सकती हैं, और न ही पहले से तयशुदा विचारों को सही ठहराने के लिये इनका इस्तेमाल किया जाना चाहिय। दुनिया की राजनीति और अर्थनीति में बड़े-बड़े परिवर्तन और उथल-पुथल हो रहे हैं। हमें इन जटिल परिस्थितियों का सामना करना होगा।

लेनिन ने मार्क्सवाद के आपस में जुड़े हुए तीन संगठक अंगों की चर्चा की है, वे हैं –

1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन

2) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, और

3) इतिहास की प्रेरक शक्ति के रूप में वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त

5

भारतीय दायर्शनिक विचार और मार्क्सवादी दर्शन

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन प्रकृति को जानने का और ज्ञान का बहुत शक्तिशाली औज़ार है। समाज और ऐतिहासिक घटनाक्रमों पर लागू करने से यह इतिहास का भौतिकवादी नज़रिया बन जाता है। सन् - तारीखों का बदलना, राजा-महाराजाओं और राजवंशों के आने-जाने अथवा आक्रमण तथा विजय की गाथाओं को आम तौर पर इतिहास कह दिया जाता है। पर दरअसल इतिहास सामाजिक विकास तथा मनुष्य द्वारा अपनी भौतिक ज़रुरतों को पूरा करने की कोशिशों के कारण उत्पादक शक्तियों में हो रही निरन्तर वृद्धि और विकास का परिचायक है। यह सामाजिक शक्तियों और वर्गों के बीच संघर्ष का आईना है। इतिहास का विकास एक वैज्ञानिक आधार पर सिलसिलेवार ढंग से होता है। नई सामाजिक व्यवस्था पुरानी व्यवस्था को नेस्तनाबूद करती है। नई व्यवस्था को लाने वाला वर्ग अधिक विकसित उत्पादक शक्तियों तथा अधिक उत्पादकता से जुड़ा होता है।

विद्वान समाजशास्त्री और इतिहासकार **डी. डी. कैशाम्बी** का कहना है, "यदि इतिहास का अर्थ असाधारण महत्वाकांक्षी व्यक्तियों और भीषण युद्धों का महज़ एक क्रम है तो भारतीय इतिहास को लिख पाना बहुत कठिन होगा। किन्तु यदि उनके राजा के नाम जानने की अपेक्षा यह जानना अधिक महत्वपूर्ण है कि उस निश्चित समय के लोगों के पास हल थे या नहीं तो भारत का अपना एक इतिहास है..."

आम तौर पर मार्क्स के दार्शनिक अवदानों का आधार पश्चिमी विचारों, खास तौर पर

ग्रीक और जर्मन दार्शनिक परम्पराओं को बताया जाता है। लेकिन भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मकता– ये दोनों चीज़ें हमारी अपनी समृद्ध दार्शनिक परम्परा में भी खोजी जा सकती हैं।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने मूल स्रोतों से बौद्ध दर्शन का गहन अध्ययन किया। उनके अनुसार बुद्ध की शिक्षाओं में द्वन्द्वात्मकता के कई तत्व मौजूद हैं। बाद में महान बौद्ध दार्शनिक **धर्मकीर्ति** ने उन्हें सूत्रबद्ध किया और तब वे अरबों के मार्फत यूरोप पहुंचे। उन्होंने निरन्तर परिवर्तन के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। यह बताया कि कुछ भी शाश्वत नहीं है, सब कुछ क्षणिक और अनित्य है। उन्होंने उपनिषदों के "आत्मवाद" के खिलाफ "अनात्मवाद" का झण्डा बुलन्द किया। बौद्धों द्वारा ईश्वर की सत्ता को मानने से इन्कार और उनकी तार्किक दृष्टिकोण का आधार इन्हीं विचारों को समझा जाता है। कहा जाता है कि धर्मकीर्ति ने ही निम्नलिखित बातें कहीं –

मूर्खता के पांच लक्षण हैं, जैसे-वेदों की सर्वसत्ता को मानना, किसी एक को श्रष्टा के रुप में स्वीकार करना, पवित्र जल में डुबकी लगाकर कुछ हासिल करने की अपेक्षा करना, जात-पात को स्वीकारना तथा पाप से मुक्ति पाने के लिये अपने शरीर पर अत्याचार करना।

हालांकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि मार्क्स और एंगेल्स भारतीय दर्शन के विभिन्न धाराओं का विशद अध्ययन कर सके हों। पर एंगेल्स ने द्वन्द्वात्मकता के विचारों के एक स्रोत के रुप में बौद्ध दर्शन की चर्चा ज़रुर की है।

बहरहाल, बौद्ध दर्शन की विसंगतियों और अपरिपूर्णताओं, उसके सामाजिक समझौतों तथा बाद के काल में उसमें आये वैचारिक पतन ने राहुलजी को मार्क्सवाद ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया। जीवन की अंतिम सांस तक वे इसके विचारों के प्रति समर्पित रहे और देश की आम जनता के बीच उसे लोकप्रिय बनाने के काम में जुटे रहे।

भौतिकवाद भी भारतीय दर्शन की कई धाराओं से जुड़ा रहा है। प्राचीन भारत में पल्लवित महान दार्शनिक धारा **सांख्य** एक वस्तुवादी तथा अनीश्वरवादी दर्शन था। इसके प्रतिपादक **कपिल मुनि** आदि विद्वान के रुप में जाने जाते हैं। इसी प्रकार **लोकायत** भी एक सुसंगत वस्तुवादी विचारधारा थी। उनके दार्शनिक दृष्टिकोण ने ही उन्हें अनीश्वरवादी बना दिया।

दूसरी तरफ महायान बौद्ध मत कट्टर दार्शनिक आदर्शवाद में विश्वास करता था। फिर भी वे अनीश्वरवादी थे। इसी प्रकार महान जैन दार्शनिक-**गुणरत्न** अनीश्वरवाद का समर्थक रहा।

हालांकि **न्याय वैशेषिक** का दर्शन वस्तुवादी था। पर वह ईश्वर में विश्वास करता था। जबकि **पूर्व मीमांसा** न्याय वैशेषिक के ईश्वरवाद का विरोध करता था।

बनाया जो उन्होंने पूंजीवाद के तहत हासिल की।"(लेनिन)

मार्क्स ने न केवल दुनिया की व्याख्या ही की जैसा कि अब तक के दार्शनिकों और उनकी

अद्वैत वेदान्त हमारे देश की सर्वप्रमुख अध्यात्मवादी विचारधारा थी। पर इसे हमारे देश की महान दार्शनिक परम्पराओं का एकमात्र उत्तराधिकारी नहीं कहा जा सकता है– जैसा कि कुछ लोग कोशिश करते हैं। वेदान्त की समस्त शाखाएं ईश्वर को संसार के स्रष्टा और प्रतिपालक के रुप में पेश करते हैं। अद्वैत वेदान्त ने एक तरह के परम ईश्वरवाद की वकालत की। (यहाँ हम सिर्फ प्राचीन भारत के कुछ एक महत्वपूर्ण दार्शनिक धाराओं पर नज़र डाल रहे हैं। इस विषय पर विस्तार मे जानकारी पाने के लिये पाठक भारतीय दर्शन पर **प्रोफेसर देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय** की पुस्तकों को अवश्य पढ़ें)।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का इतिहास यहाँ के विभिन्न दर्शनों के बीच संघर्ष का इतिहास है। पर इतना ज़रुर स्पष्ट है,कि न तो द्वन्द्वात्मकता और वस्तुवाद और न ही अनीश्वरवाद भारत के लिये पराया सोच था। हालांकि सच्चाई के विपरीत इस तथ्य को हमेशा नकारने और दबाने की कोशिश होती रही है। पर वह भारत की दार्शनिक परम्परा का अभिन्न हिस्सा है और उसकी जड़ें प्राचीन भारत की धरती में मज़बूती से जमी हुई हैं।

आज मार्क्सवाद को आधुनिक विचारों के विकास की सर्वोच्च उपलब्धि समझी जाती है, जिसे खत्म करने के लिये पूंजीवादी प्रचारक रात दिन एक किये हुए हैं। लेकिन क्या उन्हें सफलता मिल पायी है ? इसी कारण् 'विचारधारा का अन्त' का नारा देकर वे इस विषय पर चर्चा को ही बन्द कर देना चाहते हैं। उनके भारतीय मित्र साथ ही यह कहने में कभी नहीं थकते कि मार्क्सवाद भारत के लिये एक विदेशी विचारधारा है,जिसे पश्चिम से यहाँ लाया गया है।

बात सही है,कि आधुनिक विचार आज हमें पश्चिमी विचार के रुप में दिखायी देते हैं। लेकिन यह इसलिए,कि पिछले दो-तीन सौ सालों के दौरान पश्चिम में सामाजिक विकास की प्रक्रिया बेरोक-टोक चलती रही। जबकि पूरब इस दौरान औपनिवेशिक गुलामी में जकड़ा रहा और इस कारण उसका स्वाभाविक विकास नहीं हो सका। मार्क्सवाद ने अपने दार्शनिक वस्तुवाद का विकास आधुनिक विचारों के आधार पर ही किया। पर जैसा कि हम देखते हैं, उसमें भारतीय दर्शन,परम्परा और संस्कृति का अवदान कम नहीं रहा। लेकिन जिस प्रकार 'आधुनिक विचार' का महत्व आज सर्वव्यापी है, उसी प्रकार मार्क्सवाद सारे विश्व में प्रासंगिक है।

यह यक़ीनन अनैतिहासिक और मूर्खतापूर्ण बात होगी अगर हम मार्क्सवाद के विभिन्न तत्वों अथवा स्रोतों को प्राचीन दर्शन और विचारों में ढूंढ़ने की कोशिश करें। इनके बीच किसी प्रकार की तुलना करना भी सही नहीं होगा। हमें आधुनिक अन्तरवस्तु को प्राचीन ऐतिहासिक या दार्शनिक सन्दर्भों में देखने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। तब और अब के समय और परिस्थिति में ज़मीन और आसमान का फर्क है। लेकिन हमें यहां अथवा विदेश

में प्राचीन काल से अब तक समाज के साथ-साथ विचारों के विकास में भी द्वन्द्वात्मक निरन्तरता को अवश्य ही देखना चाहिए।

6

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्सवाद का दर्शन हमें इस बात के लिये प्रेरित करता है कि हम भौतिकवादी दुनियां को एक वस्तुगत यथार्थ के तौर पर माने न कि माया अथवा भ्रम के रूप में। जो भी प्रमुख है वह पदार्थ है। विचार और चेतना विश्वास और परिवर्तन के क्रम में विश्व के और प्रकृति के प्रतिबिम्ब होते हैं। कोई परम ब्रह्म अथवा आत्मन स्वंय मे अस्तित्व में नहीं हैं। यथार्थ की दुनिया हमारी चेतना से परे अपना वजूद रखती है। मानव इसके बारे में विचार करने से पूर्व भी जिन्दा रहा और प्रकृति के साथ सम्बन्ध क़ायम किया। समय-चक्र के दौरान, संस्थान, नियम क़ानून इत्यादि विकसित होते गये और इनका विकसित होना मानव संसार में हो रहे परिवर्तनों का प्रतिबिम्ब हैं। दूसरी ओर विचारों, नियमों और संस्थानों ने दुनिया को, जैसी कि वह वजूद में है, प्रभावित किया और परिवर्तित किया।

इस यथार्थ का प्रत्येक हिस्सा बदल रहा है - अपने गति के नियमों के मुताबिक़ वह या तो वृद्धि और विकास की ओर उन्मुख है अथवा पतन और मृत्यु की ओर - इनमें से कुछ तो पहले से ही मानव के ज्ञान की सीमा में हैं और कुछ को अभी जाना बाक़ी है।

इस लिहाज़ से कुछ भी स्थिर, शाश्वत अथवा सनातन नहीं है - भले की हम समय को क्षणों में अथवा ऐतिहासिक मुद्दतों में नाप लें। मानव और मानव समाज इस यथार्थ का हिस्सा हैं और इन्हें भी इस प्रक्रिया से गुज़रना है।

इसलिये यह सोचना सही नहीं है कि कोई भी परिघटना कोई 'रहस्य' है अथवा अज्ञात है। हो सकता है कि इस वक्त वह अज्ञात हो पर यह सोचना सही नहीं है कि 'ऐसा होता रहा है, और हमेशा ऐसा ही होता रहेगा।'

सभी प्राकृतिक और सामाजिक घटनाएं एक दूसरे पर निर्भर होती हैं और इसलिए उन्हें अलग थलग करके नहीं देखना चाहिए बल्कि इनकी एक दूसरे पर निर्भरता के आधार पर परख करनी चाहिए। दो घटनाओं को जब अलग-अलग देखा जाय तो वे एक सी नज़र आ सकती हैं, लेकिन जब हम उन्हें देश और काल को ध्यान में रखकर उनके आपसी सम्बन्धों और उनकी एक दूसरे पर निर्भरता के साथ देखतें हैं तो उनके अर्थ बहुत ही अलग हो सकते हैं।

समाज और प्रकृति में होने वाले परिवर्तन परस्पर विरोध - अर्थात उनके अंदर के विरोधों

के संघर्ष का नतीजा होते हैं। यह टकराव किसी नये कारक के शक्तिशाली होने और दूसरे कारकों के कमज़ोर होने और अप्रचलित बन जाने के कारण होता है। यह पतनोन्मुख कारक अपने अस्तित्व को बनाये रखने का सिर तोड़ कोशिश करता है। जब कोई चरणबद्ध घटनाक्रम ऐसे चरण पर पहुँच जाय जहाँ पिछले से नाता तोड़ना पड़े तो गुणात्मक छलांग लगायी जाती है जिससे कोई नयी चीज़ पैदा होती है। सामाजिक परिवर्तन में इसे हम क्रांति कहते हैं। मगर इसके चरित्र का आधार ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

इन सारी बातों के लिए स्वतंत्र अध्ययन की जरूरत है।- उन्हें चंद सीधे-सादे सूत्रों में सूत्रबध्द नहीं किया जाना चाहिए। द्वन्दवादत्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद का दर्शन मूलतः उन नियमों की खोज है जो विश्व और मानव समाज को नियंत्रित करते हैं। यह यथार्थ का निचोड़ और यथार्थ का विश्लेषण है। यह कोई व्यवस्था नहीं है जिसमें जीवन और उसकी समस्याओं को फिट कर दिया जाय। यह कोई ऐसा दृष्टिकोण नहीं है जिसे कृत्रिम एंव जीवित प्रक्रियाओं पर थोप दिया जाय। यह एक औज़ार है जो हमें अपने समाज और उसकी इर्द गिर्द की दुनिया को समझने में मदद करता है। इससे हम अपने समाज को बेहतरी की दिशा में परिवर्तित करने का हुनर सीखते हैं। इस औज़ार को हम कैसे इस्तेमाल करें यह हमारी सामूहिक सामर्थ्य पर निर्भर करता है। लेकिन यह ऐसा ज्ञान नहीं है जिसे चंद लीडर(बुद्धिजीवी) ही सीखने के हक़दार हैं या समर्थ हैं। यह तो ऐसा ज्ञान है जिसे पार्टी सदस्यों की क़तारों और जन साधारण को अवगत कराना चाहिए। इसके लिए ब्रह्मणवादी रवैया नहीं अपनाना चाहिए, जो कहते हैं कि वेदों को जन साधारण को पढ़ने का अधिकार नहीं है - इसे तो वही सीख सकते हैं जो दोबारा जन्म ले चुके हैं अर्थात द्विज हैं। हम यह बात नहीं मान सकते कि मार्क्सवादी दर्शन सिर्फ चंद विशिष्ट लोगों के लिए हैं।

7

विजातीय विचारधारा के विरूद्ध संघर्ष

हिन्दुत्व के अलमबरदारों द्वारा हमेशा यह बताने की कोशिश की जाती है, कि भारतीय लोग एक अलग ही आध्यात्मिक सांचे में ढले हुए हैं। भौतिक दुनिया से वे दूर हैं। उनके विचारों में आध्यात्म और परलोक की सोच ही छायी रहती है। उनके दैनिक जीवन को सिर्फ शास्त्र और धर्मकथाएं ही निर्देशित करती हैं। इसके पीछे उनकी मंशा लोगों के दिमाग़ पर रुढ़िवाद की जकड़न को मज़बूत करने का होता है। दरअसल वे उन्हें नपुंसक बनाना और व्यावहारिक क्रांतिकारी कार्रवाइयों से दूर भगाना चाहते हैं। लेकिन यह अर्धसत्य ही है और एक व्यर्थ का प्रयास। बुनियादी तौर पर भारतीय ज़ेहन तार्किक है, खोजी और व्यवहारिक है और यहाँ विदेशी और स्थानीय शोषकों और उत्पीड़कों के खिलाफ संघर्षों की पर्याप्त परम्परा

रही है और ये ही प्रेरणा और मार्गदर्शन के स्रोत हैं। मौजूदा दौर में जारी रह रहे और बढ़ते हुए संघर्षों के रास्ते में जो रुकावटें पैदा करती हैं– वे हैं वे फूटपरस्त प्रवृत्तियाँ जिनकी जड़ें हमारे समाज में गहराई तक जमी हुई हैं और जिनका दोहन हमारे देश और विदेश की प्रतिक्रियावादी राजनीतिक ताक़तें करती हैं। लेकिन इस पहलू पर हम बाद में विचार करेंगे।

आज कल कई तरह की 'आधुनिक विचारधाराओं' को आकर्षक जामा पहना कर लोगों के सामने पेश किया जा रहा है। टी.वी.,रेडियो और ढेर सारे चमकदार पत्र-पत्रिकाएं रात-दिन इनके प्रचार में लगी हुई हैं। उनमें से कुछ अपने को गूढ़ दार्शनिक तत्व वाले बताने की कोशिश करते हैं। कुछ खुल कर 'भोगवाद' और 'उपभोक्तावाद' के प्रचार में जुटे हैं,तो कोई एकदम ही भोंडे नग्नवाद के समर्थक हैं। इन बाज़ारु विचारधाराओं की मुख्य बातें हैं– व्यक्ति द्वारा भौतिक तथा ऐन्द्रिक सुख के लिये सब कुछ करना। राजनीतिक और सामाजिक जीवन में यह अवसरवाद तथा कैरियरवाद के रुप में दिखता है। सिद्धान्त और बलिदान की भावना को तिलांजलि देकर येन-केन-प्रकारेण उपर कैसे पहुंचा जाय, यही इनके जीवन का उद्देश्य है।

इस तरह के लोग (जिनमें कुछ पार्टी सदस्य भी शामिल हैं) अक्सर सादा जीवन के कम्युनिस्ट आदर्श,व्यक्तिगत ईमानदारी और निष्ठा,जनता के बीच रहकर उनकी सेवा और किसी उद्देश्य के लिये जान देने की भावना को नीचा दिखाकर मज़ाक़ उड़ाते रहते हैं। वे छुआछूत की बीमारी की तरह चारों ओर अपने अवसरवादी सोच को फैलाने की कोशिश करते हैं। यह स्वाभाविक ही है कि इन पूंजीवादी बीमारियों का प्रभाव पार्टी सदस्यों पर भी पड़ता है,क्योंकि वे एक कटी हुए दुनिया में नहीं रहते हैं। पर यह स्वाभाविक नहीं है कि उन्हें पार्टी को भ्रष्ट और बरबाद करने दिया जाय। ऐसे में उनके खिलाफ हमें लड़ना होगा और उन्हें बढ़ने से रोकना होगा। महान सन्त कवि **तुकाराम** ने एक सुन्दर दोहे में उस आदमी के गुणों को बतलाया है,जो दबे कुचलों के लिये काम करता है–

जे का रंजले गांजले। त्यांसी म्हणे जो आपुले।

तो चि साधु आड़खावा। देव तेथेचि जाणावा॥

अर्थात– वह,जो शोषित-पीड़ित और ग़रीबों के साथ खुद को एकाकार कर दे,सिर्फ उसी को भला मानुष समझों,और ईश्वर का निवास भी सिर्फ उसी में हैं।

दूसरी तरफ व्यक्तिगत रुप से या सामूहिक तौर पर बाबाओं,गुरुओं और मठों के प्रति लोगों की 'भक्ति भावना' में भी इधर काफी बढ़ोत्तरी देखने को मिल रही है। यह जीवन की कठिन वास्तविकताओं से मुंह चुराकर सपनों की दुनिया की ओर पलायन का एक रुप है। ऐसे हालात में असली लड़ाई में जीत हासिल करने के पहले ज़रुरी है कि वैचारिक संघर्ष को जीता जाय। और केवल मार्क्सवादी दर्शन ही आम जनता में क्रांतिकारी आशावाद की भावना

पैदा कर सकती है।

वैचारिक मोर्चे पर हर कम्युनिस्ट का कर्तव्य है, कि –

1. तथाकथित 'आधुनिक विचारधाराओं'के चमक-दमक वाली प्रवृत्तियों का मुक़ाबला किया जाय।

2. लोगों के दिमाग पर मध्ययुगीन, सामन्ती रुढ़िवाद की जकड़न को तोड़ा जाय, जो धर्म की साम्प्रदायिक विकृतियों के लिये ज़िम्मेदार हैं। ये प्रतिक्रियावादी और दकियानूसी विचारधाराएं पूर्व के अवशेषों से अपनी ताक़त जुटाती हैं।

3. आम लोगों को तर्कसंगत, वैज्ञानिक चेतना से लैस किया जाय।

4. पार्टी के अन्दर भी उपर लिखित कर्तव्यों को पूरा करना है। पार्टी में वैचारिक शिक्षा का काम एक निरन्तर चलने वाला काम है। साथ ही वैचारिक क्षेत्र में 'जो कुछ हो रहा है, चलने दो' की भावना साथियों में 'जियो और जीने दो' की प्रवृत्ति पैदा करती है। इस बीमारी का भी डट कर मुक़ाबला किया जाना ज़रुरी है। इसके चलते मार्क्सवाद-लेनिनवाद की जगह हर तरह के अवसरवाद और ढुलमुल विचारों को क़ाबिज़ कराने की कोशिश की जाती है। ढुलममुलपन और ग़ैर-मार्क्सवादी सोच का दूसरा पहलू है सांगठनिक उदारवाद। सृजनात्मक चिन्तन और लेखन को हमें ज़रूर बढ़ावा देना चाहिये। पर इसका मक़सद पार्टी के अन्दर और बाहर मार्क्सवाद विरोधी विचारों का प्रचार क़त्तई नहीं होना चाहिए।

7

पूँजीवादी विकास के नियम

मार्क्स द्वारा प्रस्थापित अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त ने पहली बार पूंजीवादी उत्पादन के रहस्यों को उजागर किया था। इसने दिखाया कि किस तरह उत्पादन के साधनों का मालिक (पूंजीपति) अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाने के ज़रिये, अपने मुनाफे में लगातार वृद्धि करता है। पूंजी के संचय की प्रक्रिया और उसकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति को भी इसने स्पष्ट किया। पूंजीपति द्वारा मशीनों के ज़रिये मज़दूरों को विस्थापित करने की कोशिश और इस उद्देश्य के लिये उत्पादन के साधनों में नई तकनालॉजी लाने की होड़ का भी इसने भण्डाफोड़ किया। इस प्रक्रिया के चलते पूंजीपतियों के इशारे पर नाचने वाले बेकारों की सेना में बेतहाशा वृद्धि होती रहती है। कुछ लोगों के पास अपार धन इकट्ठा होता रहता है, जबकि ढेर सारे लोग ग़ुरबत की चक्की में पिसते रहते हैं। इसने उच्च तकनालॉजी द्वारा उत्पादन में वृद्धि और ग़रीब जनता

की खरीद शक्ति में लगातार कमी की है और इसी कारण समय-समय पर आने वाले अधिक उत्पादन के संकट (जिसे पूंजीवादी दुनिया खुशफहमी में 'मंदी' कहती है) को भी स्पष्ट किया।

इस प्रक्रिया के साथ-साथ ग्रामीण जनता की बदहाली और बरबादी भी चलती रहती है। अपनी ज़मीन से हाथ धोकर भूमिहीन लोग शहरों की ओर भागते हैं और वहाँ पहले से ही फल-फूल रही बेकारों की सेना की वृद्धि को और तेज़ कर देते हैं। यही दशा गांव के दस्तकारों की भी है। जिनका स्थान पहले के ग्रामीण अर्थतंत्र में सुरक्षित बना हुआ था। गांव और शहरों के बीच लेन देन के मामले में भी गांव बुरी तरह से मार खा रहे हैं।

पूंजीवाद मुनाफे में वृद्धि के लिये तकनालॉजी में विकास करता है, और इस प्रक्रिया में पर्यावरण को पूरी तरह से बरबाद कर देता है। जैसा कि मार्क्स ने कहा कि वे "धन-सम्पदा, धरती और श्रम के सभी मूल स्रोतों को पूरी तरह से चूस लेते हैं।"

मार्क्स ने पूंजीवादी समाज के विकास और गति के नियमों का विश्लेषण करके उसके समाजवादी समाज में संक्रमण की अनिवार्यता को दिखाया। यह किसी भाग्यवादी की भविष्यवाणी नहीं थी। अपने समकालीन समाज में मौजूद अन्तर्विरोधों और टकरावों को उजागर कर उन्होंने शोषकों के खिलाफ शोषित वर्गों के उन संघर्षों की ओर भी इंगित किया जो इन परिवर्तनों को लायेंगे।

मार्क्स के बाद, लेनिन ने पूंजीवाद के आगे के विकास का विश्लेषण किया। उन्होंने पूंजीवाद की नई मंज़िल, साम्राज्यवाद के युग की चारित्रिक विशेषताओं पर रोशनी डाली। कार्टल (कम्पनियों का समूह) और इज़ारेदारों का ज़बरदस्त विकास, वित्तीय पूंजी की बढ़ती हुई प्रभुता, वस्तुओं के निर्यात के साथ-साथ पूंजी का निर्यात, बाज़ार, प्रभावक्षेत्र और उपनिवेशों के लिये मुख्य साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच होड़, और उसके फलस्वरूप टकराव तथा विनाशकारी युद्ध इत्यादि को भी उन्होंने बतलाया। लेनिन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि इनके चलते अन्तर्विरोध और तीव्र होकर क्रांति और उपनिवेशों के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को जन्म देंगे।

20 वीं सदी इन सारे घटनाक्रमों की गवाह है। पूंजी की सबसे जघन्य तानाशाही के रूप में फासिज्म का उदय, दूसरे विश्व युद्ध की विभीषिका, और उसके बाद का घटनाक्रम। यहाँ शायद उन पर चर्चा करना ज़रूरी नहीं है।

9

नव उदारवाद : साम्राज्यवाद का नया चेहरा

वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति के ज़माने को कुछ लोग एक नये युग की संज्ञा देते हैं। कहा जा रहा है कि वर्ग और वर्ग-संघर्ष अब एक हक़ीक़त नहीं रह गयी है। आम तौर पर जिसे मज़दूर-वर्ग कहा जाता है, वह अब खत्म हो चुका है। साम्राज्यवाद ने अपना चरित्र बदल दिया

है। कल्याणकारी राज्य के ज़रिये पूंजीवाद और समाजवाद, दोनों व्यवस्थाएं आपस में विलीन होती जा रही हैं। सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में समाजवादी माडल के पतन के बाद, खास तौर पर इन विचारों को खूब बल मिला है। इन सारी चीज़ों की तहों में गये बिना ही कुछ लोग अब मार्क्सवाद की प्रासंगिकता और उसके विभिन्न पहलुओं पर शक करने लग गये हैं।

यह दावा किया जाता है कि **वैज्ञानिक तकनीकी क्रांति** (साइंटिफिक टेक्नालाजिकल रिव्यूलूशन– एस.टी.आर.) के चलते मार्क्सवाद अब पुराना और अप्रांसगिक हो गया है और अब मार्क्सवाद के बाद वाले युग की ही चर्चा की जानी चाहिए। सोवियत माडेल की आलोचना ने ऐसे लोगों की सोच में ऐसा परिवर्तन ला दिया कि वे थोक भाव में मार्क्सवाद लेनिनवाद और समाजवाद की आलोचना में जुट गये।

'**भूमंडलीकरण**' के बारे में, विश्व के एक '**भूमंडलीय गाँव**' के रूप में सिकुड़ जाने के बारे में, चर्चाएं उछाली जा रही हैं, तथा सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच, विकसित **जी 7** (ग्रुप सेवेन) देशों और 150 से भी अधिक विकासशील या कम विकसित देशों के बीच विभेदों को पूरे तौर पर नज़रअंदाज किया जा रहा है। वे साम्राज्यवाद के – खासकर अमरीकन साम्राज्यवाद के अधिकाधिक खूंखार, बेईमान और हमलावार प्रकृति की उपेक्षा करते हैं और उसे छुपाते हैं और ऐसा जतलाते हैं कि अब दुनिया पूरी तरह से एक ध्रुवीय हो गयी है।

"**सुधारों**" की चर्चा – जो ग़ैर-विवादास्पद हैं– और जिनके तहत वे लाल फीताशाही में कटौती करते हैं, नौकरशाही नियंत्रण को ढीला करते हैं, क़ानूनों और नियमों की भूल-भुलैया को आसान बनाते हैं – और ऐसा करके वे दरअसल **नव उदारतावाद** के असल सारतत्व पर, जिसने नयी आर्थिक नीतियों और डंकल मसौदे की मंज़ूरी में इज़हार पाया है, छद्म आवरण डाल देते हैं। प्रसंगवश, 'सुधार' सरकार के हस्तक्षेप को खत्म नहीं करते हैं चूंकि सरकारी हस्तक्षेप के ज़रिये ही सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को बंद किया जा रहा है, उन्हें बीमार बनाया जा रहा है, उन्हें तोड़ा जा रहा है, उन्हें बजटीय सहारा देने से इन्कार किया जा रहा है, जबकि विशेष रियायतें इत्यादि देकर बहु-राष्ट्रीय निगमों को फुसलाया जा रहा है। और यह सरकार का ही हस्तक्षेप है जिसकी वजह से 'मुक्त बाज़ार के पैरोकार' ट्रेड यूनियनों को कुचलने तथा विरोध को दबाने की कानूनों को बदलने की और इस की कुल अर्थव्यवस्था को उनके हाथों में सौंपने की मांग कर रहे हैं।

दरअसल, मौजूदा दौर की निशानदेही उसके चेहरे पर अंकित **बहुराष्ट्रीय निगमों, आई.एम.एफ. और विश्व बैंक** तथा अन्य वित्तीय संस्थानों के संगठित हमलों से की जा सकती है और इन हमलावरों की हिमायत में ग्रुप-7 देशों की सरकारें पूरी मज़बूती के साथ खड़ी हुई हैं ताकि विकासशील देशों में बहुराष्ट्रीय निगमों को घुसाने का मार्ग रौशन किया जाय, विकासशील देशों की गर्दनें क़र्ज़ के जाल में फँसायी जायं; उनके प्रमुख और जीवंत उद्योगों

को गठबंधन के ज़रिये अथवा प्राविधिक समझौतों के ज़रिये; इक्विटी शेयरों की भागीदारी के ज़रिये या सीधे सीधे क़ब्ज़ा कर लेने के ज़रिये खरीद लिया जाय, उनके बाज़ारों पर छा जाया जाय; उनके संचार माध्यमों और संस्कृति पर धावा बोल दिया जाय और निजीकरण के ज़रिये तथा तीन-चार दशकों में कड़ी मशक्कत और सार्वजनिक निवेशों के फलस्वरूप निर्मित सार्वजनिक सम्पत्ति को कौड़ी के मोल खरीद लेने के ज़रिये उनके सार्वजनिक क्षेत्र को तोड़ा जाय; उनकी कृषि और उनके व्यापार पर अपना शिकंजा बढ़ाया जाय : और अंततः उनकी आर्थिक नीतियों और राजनीतिक नीतियों को अपने हुक्म पर बनवाया जाय।

यह सार्वजनिक क्षेत्र ही नहीं है जिस पर हमले हो रहे हैं। बहुराष्ट्रीय निगम कमर कसकर हमारे निजी क्षेत्र के संस्थानों को भी निचोड़ने के लिए यहाँ आ रहे हैं। 'अगर तुम उनका मुक़ाबला नहीं कर सकते, तो उनके साथ शामिल हो जाओ'– इस सिद्धान्त के तहत कुछ स्थानीय इज़ारेदार घरानों ने नये सहयोग अनुबंधों पर हस्ताक्षर किये हैं और बहुत राष्ट्रीय निगमों को इक्वटी शेयरों का बड़ा हिस्सा दिया है ताकि दोनों मिलकर बाज़ार का दोहन कर सकें और मुनाफे में साझेदारी कर सकें। साथ ही यह करार भी हुआ है कि मैनेजमेंट में राष्ट्रीय निगमों का फैसला ही अंतिम फैसला होगा। कुछ दूसरों ने, जिन्होंने बहु राष्ट्रीय निगमों के साथ इस या उस क़िस्म का प्राविधिक समझौता कर रखा था अब निराश होकर समझौते से बाहर आ गये हैं क्योंकि नयी आर्थिक नीतियों से प्रोत्साहन पाकर बहुराष्ट्रीय निगमों ने अचानक पेंच और कस दिये और ड्राइवर की सीट पर आन बैठे। कुछ ऐसे भी हैं जो महसूस कर रहे हैं कि बाज़ारों पर विदेशी कम्पनियां छायी जा रही हैं और बाज़ार उनके उत्पादों से हटते चले जा रहे हैं। साम्राज्यवादियों, उनके बहुराष्ट्रीय निगमों और हमारे पूंजीपतियों के बीच अन्तर-विरोध बढ़ने शुरु हो गये हैं। पूंजीपतियों के ऐसे तबक़े अब जाग रहे हैं और ज़ोर-ज़ोर से मांग कर रहे हैं कि उन्हें भी 'प्रतियोगिता का समतल मैदान' मुहैया कराया जाय। ये तबक़े भरपूर बुलंद आवाज़ में इनके अपने सुरक्षित क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय निगमों के हमले की शिकायत कर रहे हैं। इनमें से कुछ 'राष्ट्रवादी' रुख अपना रहे हैं पर पूंजीपति होने के नाते वे वामपंथ की अगुवाई में शामिल होने अथवा सरकार की आर्थिक नीतियों और डंकल के राष्ट्र विरोधी निहितार्थों के खिलाफ वामपंथ की चेतावनियों और पहलक़दमियों को मान्यता देने में डर महसूस कर रहे हैं। लेकिन लघु उद्योग क्षेत्र और हमारे दस्तकार कहीं ज्यादा मुखर होकर आवाज़ बुलंद कर रहे हैं।

हमारा अनुसंधान और विकास कार्यक्रम गम्भीर ख़तरे में फँस गया है – यहाँ तक कि हमारे कुछ प्रतिष्ठित शोध संस्थानों में से विज्ञानकर्मियों की भगदड़ सी मच गयी है। इन्हें बहुराष्ट्रीय निगम कहीं ज्यादा तनख्वाहों और पर्क्स का लालच देकर फुसला रहे हैं। इन घटनाक्रमों पर देशभक्त और भरपूर योग्यता वाले विज्ञानकर्मियों का चिंतित होना स्वाभाविक ही है।

ये सभी साम्राज्यवादी हमले के पहलू हैं जिन्हें 'नव-उदारतावाद' की नक़ाब तले छिपाया गया है और अगर इनके खिलाफ चलने वाले सभी संघर्ष-साम्राज्यवाद विरोधी और देशभक्त संघर्ष का ही हिस्सा हैं।

उनके ढांचागत समायोजन के नमूने मैक्सिको और दूसरे लैटिन अमरीकी देशों पर तबाही और कहर बरपा कर ही चुके हैं। फिर भी, वे और भारत में उनके उसी हैसियत के सहयोगी बिना थके हमें समझाते जा रहे हैं कि हम तथाकथित '**एशियन टाइगरों**' मसलन– दक्षिण कोरिया और ताइवान की हु-ब-हू नक़ल करें। यहाँ यह क़ाबिले ग़ौर है कि विशेष सुविधाओं के तहत अर्थात रणनीतिक कारणों से उपलब्ध करायी गयी पूंजी और टेक्नालाजी की प्रचुर खुराक, और गारंटीशुदा बाज़ारों के साथ तथाकथित "एशियन टाइगर"– दक्षिण कोरिया और ताइवान अमरीकी छतरी के तले विकसित हुए हैं।

10

विकासशील देशों के खिलाफ साम्राज्यवादी हमला

विकासशील देशों के खिलाफ साम्राज्यवादी हमला इसके पहले साम्राज्यवादी "बाक़ी दुनिया को तहज़ीबयाफ्ता बनाने के गोरे लोगों के मिशन" के बारे में चर्चा किया करते थे। मगर मौजूदा दौर के उनके वरिस "मानवाधिकार","जनवाद","सामाजिक एवं श्रम मानदंड" इत्यादि की चर्चा ज़ोर शोर से कर रहे हैं और सारी दुनिया के नैतिक प्रशासक होने का स्वांग रच रहे हैं। यक़ीनन दुनिया भर में हरेक देश में इन अधिकारों के लिए लड़ा जाना है और सहृदय लोगों के समर्थन से अवाम को यह लड़ाई जीतनी है। पर साम्राज्यवादियों को यह हक़ किसने दे दिया कि वे बाक़ी दुनिया के मामलों पर फैसला सुनाने के लिये बैठें ?

हमने देखा है कि निकारागुआ, अल सलवाडोर, हैटी, पनामा, ग्रेनाडा, और प्यूर्टोरिको में अमरीकी तोपों और बन्दूक़ों ने मानवाधिकारों का कितना सम्मान किया है ? हमने देखा है ईराक़ के खिलाफ अत्यंत ऊंची तकनीक वाली घनघोर लड़ाई छेड़ी गयी और सर्बे और बोस्नियों के बीच झगड़ों में हवाई हमलों के ज़रिये पहले से ही बदतर स्थति को और बद्तर बना दिया गया। हमने देखा कि सोमालिया और इथोपिया की जनता के गले में बन्दूक की नोक पर कैसी मानवीय सहायता की खुराक़ उतारी गयी और नाकेबंदी की निंदा करने वाले संयुक्त राष्ट्र संघ के दो दो प्रस्तावों को दरकिनार रखते हुए छोटे से मगर बहादुर क्यूबा के खिलाफ कड़ी आर्थिक नाकेबंदी थोपने के ज़रिये "जनवाद" और "मानवाधिकारों" की किस तरह रक्षा की गयी ! और फिर अमरीका में रहने वाले कालों और हिस्पानिकों (स्पेनिश मूल के अमरीकी) के मानवाधिकार क्या हैं ? साम्राज्यवाद मानवाधिकारों का सम्मान करने वाला

कभी भी नहीं रहा है। इस सम्बंध में आज का उनका अपनाया हुआ पाक-साफ रुख इस कहावत को ही चरितार्थ करता है कि नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हज करने चली।

इसके अलावा, यह सवाल पूछा जा सकता है कि अब जबकि 'सोवियत खतरा' अस्तित्व में ही नहीं रहा और '**शीत युद्ध**' अधिकृत रूप से समाप्त घोषित हो चुका है तो अमरीका और **नाटो** की जारी रह रही सैनिक तैयारियाँ आखिर किसके खिलाफ हैं? क्या यह समूचे विश्व को धमकाने के लिए, सागरों की निगरानी के लिए, झुकने से इन्कार करने वालों के सबक़ सिखाने के लिए, विभिन्न जगहों पर तनाव भड़काने – मसलन पाकिस्तान को **एफ- 16** विमानों का, दिया जाना इत्यादि के लिए हैं?

विकसित पूँजीवादी देश विश्व के कच्चे माल और उर्जा स्रोतों के सर्वाधिक बड़े हिस्से के इस्तेमाल पर अपनी इज़ारेदारी क़ायम करना चाह रहे हैं। अपने स्वयं के तेज़ गति वाले विकास के लिए वे अधिकाधिक सबसे बड़ा हिस्सा लूट ले जायंगे और विकास की खातिर अपने कष्टदायक संघर्ष में जुटे छोटे देशों के लिए बहुत कम छोड़ जायंगे।

अधिकाधिक मुनाफा कमाने की हवस में उन्होंने पर्यावरण को प्रदूषित कर डाला है, अपना एटामिक कचरा सागरों में उंडेल दिया है, ओज़ोन परत में छीलन पैदा कर दिया है, बहते हुए और भूमिगत ताज़े जल के स्रोतों को चूस डाला है तथा विश्व भर के हरे भरे जंगलों को उजाड़ डाला है। यहाँ तक कि इस अपराध के लिए भूतपूर्व समाजवादी देश भी दोषी हैं जिन्होंने तीव्र औद्योगिकरण और पूंजीवादी विश्व से आगे निकल जाने की होड़ में पर्यावरणीय संतुलन का ख्याल नहीं रखा। लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि एक ऐसी व्यवस्था ही प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा कर सकती है जिसमें इन्सान और इन्सानी समाज के लिए फिक्रमंदी हो और जहां मुनाफा एकमात्र लक्ष्य न हो।

अब साम्राज्यवादी अपने रासायनिक और ऐसे ही अन्य अत्यंत प्रदूषण पैदा करने वाले उद्योग विकासशील देशों में ले आने का इरादा रखते हैं मानो यूनियन कार्बाइड का तर्जुबा काफी नहीं है। और इसके बावजूद वे पाखंड भरा रुख अपना रहे हैं और पर्यावरणीय मानदंडों में एक नया क़ानून जुड़वाना चाह रहे हैं ताकि हमारे उत्पादों के लिए उनके बाज़ार का द्वार बंद हो जाय। ठीक ऐसा ही मामला सस्ते श्रम का है।

उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां हमारे सस्तेश्रम का लाभ उठाने के लिए घुसपैठ करना चाहती हैं। और फिर पीठ फेर लेती हैं और विकासशील देशों के सस्ते श्रम के बहाने का इस्तेमाल निर्यात अवरुद्ध करने एवं अपने बाज़ारों को सुरक्षित रखने के लिए करती हैं।

यूरोपीय संघ और अमरीका के बीच कृषि और दुग्ध उत्पाद सम्बन्धी विवाद को जो इन क्षेत्रों में दी जानेवाली सब्सीडी और एक दूसरे के बाज़ारों में उन्हें थोपने के सम्बन्ध में था, सुलझाने के लिए वे करोड़ों गायों को काट डालने पर सहमत हो गये जबकि एक ओर करोड़ों

बच्चों को एक बूंद दूध भी मयस्सर नहीं होता है। उन्होंने अपने बाज़ारों को सुरक्षित रखने की अन्य धाराओं के अतिरिक्त यह काम किया है, जैसे अमरीका में इस बात के लिए किसानों की सब्सीडी दी जाती है कि वह अपनी ज़मीन परती रखें ताकि गेहूं और उत्पादों की क़ीमतें गिरें नहीं। इधर एशिया और अफ्रीक़ा में लोग भुखमरी और कुपोषण के शिकार हो रहे हैं।

क्या ये काम मानवीयता के लक्ष्य से प्रेरित होकर और "मानवाधिकारों" के लिए सम्मान की भावनाओं से किये जा रहे हैं या वे इजारेदारी पर आधारित पूंजीवाद के अकूत मुनाफा कमाने की इच्छा के कारण किये जा रहे हैं ?

जब उनके अपने देशों में मन्दी का सिलसिला शुरू होता है, बेकारी बढ़ने लगती है। और सामाजिक सुरक्षा के लिए दी जाने वाली रक़म घटा दी जाती है तो विकसित पूंजवादी देश डालर की दर पर घटिया तकनीक और इस्तेमाल किये हुए उपकरण देकर अपना बोझ कर करना चाहते हैं। विकासशील देशों के बिके हुए राजनेता और उन देशों की सरकारें विकसित पश्चिमी देशों के इस ताम-झाम के फन्दे में फंसती हैं और विनम्र होकर साम्राज्यवादी देशों की इच्छाओं का पालन करती हैं। पर साम्राज्यवादियों की इस कार्रवाई से साम्राज्यवाद का मूल स्वरुप नहीं बदलता है।

जी-सात के साम्राज्यवादी देशों में आपस में तीव्र अन्तर्विरोध हैं। इसे हम अमरीका और जापान के बीच, अमरीका और कनाडा के बीच, यूरोपीय संघ के देशों और अमरीका के बीच और स्वयं यूरोपीय संघ के देशों के बीच देख सकते है। पर हर बार वे अपना बोझ विकासशील देशों के कन्धों पर डालकर उस अन्तर-विरोध को सुलझाना चाहते हैं। वे शेष सारी दुनिया का शोषण कराने के लिए इज़ारेदारियों की मंडी के रूप में काम करते हैं।

उनके मुखौटे के पीछे जो उनका असली चेहरा है उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। यह साम्राज्यवादी चेहरा है और उससे भी अधिक बदसूरत और भयानक है जिसके बारे में लेनिन ने लिखा है। शोषण और प्रभुत्व जमाने के साम्राज्यवाद के नये कहीं ज्यादा जटिल और कहीं ज्यादा पेचीदे तौर तरीक़ों का मार्क्सवादियों और दूसरे लोगों अध्ययन किया जाना है। अब समय बदल गया है। अब साम्राजियों को फौज भेज़कर कब्ज़ा करने और उपनिवेशों पर शासन करने की ज़रुरत नहीं रह गयी है।(हालांकि आज भी दुनिया के अनेक देशों में अमरीकी सैनिक मौजूद हैं) आज उनका प्रविधि, संचार माध्यमों, वित्तीय संसाधनों और यहां तक कि अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर उनका नियंत्रण है, इसलिए तीसरी दुनियां के देशों पर नियंत्रण रखने का काम अधिक सूक्ष्म और पेचीदा तरीक़े से किया जाता है। इस कारण उनसे लड़ने का काम पहले की अपेक्षा सैकड़ों गुना कठिन हो गया है।

सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों ने साम्राज्यवाद की जो उम्र आंकी थी, उसकी अपेक्षा यह अधिक वर्षों तक जीवित रह रहा है। साम्राज्यवाद ने दूसरी और तीसरी बार ज़िन्दगी हासिल

की । इस सिलसिले में उसने प्रविधि का इस्तेमाल किया और बार-बार अपने पुर्नस्थापित किया पर उसकी इस क्षमता को कम करके आंका गया। इस मामले में मार्क्सवादी अध्ययन और विज्ञान को और आगे बढ़ाने की ज़रूरत है।

पर एक बात निश्चित है कि पूंजीवाद तीन साल पहले सर्वजयी और विजेता दिखलायी पड़ता था। पर आज यह बात स्पष्ट है कि न तो उन भूतपूर्व समाजवादी देशों में जहां यह पूंजीवाद के निर्माण की कोशिश कर रहा है और न अपने देशों में उसे ग़रीबी, बीमारी, जहालत, बेरोज़गारी का कोई समाधान मिल रहा है। यह न्याय और उचित वितरण सुनिश्चित नहीं कर सकता है। विश्व के पैमाने पर अधिकांश सम्पदा कुछ देशों में ही संचित हो रही है जिनकी प्रति अन्य तीसरे देशों के मुक़ाबले सौ क्या दो सौ गुना तक ज्यादा है। यानी ग़रीब देशों के बीच खाई और चौड़ी होती जा रही है और इसी प्रकार उनके बीच अन्तरविरोध भी बढ़ता जा रहा है। मुट्ठी भर लोग सम्पत्ति के शिखर पर बैठे हुए हैं और ग़रीबों की विशाल संख्या ज़मीन पर है। इन परिस्थितियों में सामाजिक शांति की बात करना नितान्त मूर्खता है।

मार्क्स और लेनिन ने पूंजीवादी विकास के नियमों और पूंजीवादी विकास की ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के जिस रूप में सूत्रबद्ध किया, वे आज प्रासंगिक सिद्ध हो रही हैं हालांकि उनमें और अधिक पेचीदा रूप में नये आयाम जुड़ रहे हैं।

11

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त : नए आयाम

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त मार्क्सवाद का मूल सिद्धान्त है।

वर्ग और वर्ग संघर्ष मार्क्स के आविष्कार नहीं है। वे समाज में मौजूद रहे हैं। मार्क्स और एंगेल्स ने उनकी महत्ता उजागर की जब उन्होंने कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में यह प्रसिद्ध कथन लिखा – आदिम समुदाय के इतिहास के अलावा अब तक विद्यमान समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है।

हमें अपने प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थ **महाभारत** के शांतिपर्व में और बौद्धों की धार्मिक पुस्तक महावस्तु अवदाम में यह पढ़ने के लिए मिलता है कि किस प्रकार आदिम समुदाय का वर्गविहीन समाज धीरे धीरे वर्ग विभाजित समाज में परिवर्तित होता है जिसमें निजी सम्पत्ति का उदय, लालच, हड़पने की और शोषण की प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है। इसके कारण राज्य, राजा और शासक का उदय होता है और फिर उसके तमाम तामझाम – कानून और कानून तोड़ने वालों के लिए दण्ड की बात आती है।

कुछ और आगे लिखने से पहले हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सामाजिक

शब्दावली के रूप में वर्ग से हमारा क्या तात्पर्य है, और आर्थिक श्रेणी के रूप में उसका क्या अर्थ है ?

किसी भी सामाजिक व्यवस्था में चाहे वह सामन्ती, पूंजीवादी या समजावादी हो जो बात वर्ग को परिभाषित करती है और विशिष्ट बनाती है वह यह कि उस समय प्रचलित उत्पादन के साधनों के साथ समाज में स्थित उन लोगों के समूह का क्या सम्बन्ध है। इसी से यह निकलता है कि उत्पादन प्रक्रिया में उसका क्या स्थान है यानी उत्पादन के सामाजिक संगठन में उनका क्या स्थान है। तीसरी बात यह कि सम्पत्ति के उत्पादन और उसके वितरण में उसका क्या भाग है और अन्तिम बात कि उसे उनका भाग किस रूप में मिलता है।

जहां लोगों की एक जमात या वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है तथा दूसरी जमात या वर्ग काम करता और उत्पादन करता है तो इस सम्बन्ध के कारण उत्पादन के साधनों का स्वामी वर्ग काम करने वाली जमात के श्रम का दोहन करता है।

इस प्रकार दोनों वर्गों के हित परस्पर विरोधी हो जाते हैं और उन दोनों वर्गों में संघर्ष का जन्म होता है।

इसमें शक नहीं कि किसी ऐतिहासिक काल में किसी भी समाज में ये ही दो मुख्य वर्ग मात्र नहीं होते। इन दोनों के अलावा और भी वर्ग होते हैं। उदाहरणार्थ हमारे समाज के पूंजीवादी विकास के वर्तमान काल में हमारे समाज में पूंजीपति (स्वामी) और कामगार के अलावा और भी वर्ग हैं। जैसे :

1. उत्पादन की दूसरी प्रक्रियाओं में लगे लोग और उनके सम्बन्ध– अपने खेत में काम करने वाला किसान, पहले से बचे हुए ज़मींदार जिनका रूप नया हो गया है, भूस्वामियों की ज़मीन पर करने वाले रैयत।
2. भूमिहीन और खेत मज़दूर जिनके जीवन का मुख्य साधन है दूसरों की जमीन पर काम करना है;
3. अपने रोज़गार में लगा दस्तकार जो अपने औजार से काम करता है,
4. वे हिस्से जो सहायक के रूप में काम करते हैं – दुकानदार और दूसरे लोग, जो वितरण प्रक्रिया में शामिल हैं, सरकारी अफसर और कर्मचारी, व्यावसायिक और वित्तीय तथा अन्य संस्थानों में काम करने वाले लोग, शिक्षक, डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, प्रबंधक और दूसरे बुद्धिजीवी,– इन्हें आमतौर पर मध्यम वर्ग कहा जाता है। इनमें कुछ लोग मूल्य और अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में संलग्न हैं, तथा इसके क्रियान्वयन में अन्य लोग।

मजदूरों के अलावा, दूसरे मेहनतकश जन समूह, जो आबादी का विशाल बहुसंख्यक

भाग है, का शोषण पूंजीपतियों और भूमिपतियों का छोटा भाग करता है। यह पुराने लोग भी हो सकते हैं अथवा नयी क़िस्म के। यह मज़दूरों, किसानों, खेत मजदूरों और बुद्धिजीवियों की व्यापकतम मैत्री का आधार है– संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ये वे लोग हैं जिन्हें पूंजीवाद में कोई भविष्य नज़र नहीं आता।

इसी बात को लेनिन ने नौजवानों को सम्बोधित करते हुए सरल एवं साफ शब्दों में इस तरह कहा था, "मौजूदा समाज इस सिद्धान्त पर आधारित है, लूटो या लुटो, दास स्वामी बनो या दास। हमें इसे बदलना है।"

पूंजीवादी प्रचारक समझबूझ कर अवधारणाओं में मिलावट कर रहे हैं। आम इस्तेमाल में आने वाले शब्दों में नये अर्थ आरोपित किये जा रहे हैं ताकि आम आदमी उलझन में पड़ जाये। आज "सुधार" शब्द का इस्तेमाल इतने व्यापक अर्थ में हो रहा है कि आज इस शब्द का अर्थ निकाला जा सकता है – बेलगाम पूंजीवादी मुनाफाखोरी का खुला क्षेत्र, सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों का निजीकरण, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को पूंजी निवेश के लिए, दावत यहां तक कि अर्थतंत्र के महत्वपूर्ण क्षेत्रों को खरीदने की पूरी छूट आदि। इतना ही नहीं, साम्राज्यवादी नीतियों का गुणगान "नव-उदारवाद" यासार्वभौमीकरण के रूप में किया जा रहा है। वे साम्राज्यवाद शब्द का इस्तेमाल करने से कतराते हैं।

इसलिये लोगों की इन अवधारणाओं के बारे में,बहस और संवाद की भाषा के बारे में साफ हो जाना चाहिए जिससे कि वे न उलझन में पड़े और न ग़लत दिशा की ओर उन्मुख हों।

इस प्रकार "वर्ग" की अवधारणा का उपयोग व्यापक अर्थ में और कई भावों में किया जाता है। जब भारतीय संविधान "सामाजिक और शैक्षिक रूप में पिछड़े वर्गों" का उल्लेख करता है और न्यायालय अपने निर्णयों में ""वर्ग" की चर्चा करते हैं तो उनका तात्पर्य "ऐसे लोगों का सजातीय सामाजिक भाग है जिनमें समान लक्षण होते हैं और जिनकी पहचान समान गुण धर्म से हो सकती है"। वर्ग के रूप में इसका अर्थ है समाज का वह हिस्सा जिसकी शिनाख्त उत्पादन के साधनों के साथ उसके सम्बन्ध से होती है। न्यायालय ने यह नोट करते हुए कि जाति और वर्ग समानार्थक नहीं हैं। यह लक्षित विचार है कि कुल मिलाकर अगर एक जाति सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ी हुई है तो उसकी पहचान सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों के एक हिस्से के रूप में ही कर सकती है। इसके बारे में और आगे चलकर चर्चा करेंगे। हम यहां इसका उल्लेख अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए कर रहे हैं और यह बताना चाहते हैं कि इस शब्द का उपयोग विभिन परिस्थितियों में किस प्रकार किया जाता है।

पूंजीवादी समाज में वर्गों और वर्ग संघर्ष की वास्तविक यर्थाथता की ओर संकेत करते हुए मार्क्स ने हमें वर्ग के रूप में मज़दूरों को संगठित करने तथा अन्ततः मेहनतकश जन समूह

द्वारा वर्ग संघर्ष का नेतृत्व कर राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करने की आवश्यकता बतलायी।

उन्होंने हमें किसानों और मज़दूर वर्ग के बीच वर्ग गठबन्धन की आवश्यकता बतलायी। उन्होंने कहा कि उसमें बुद्धिजीवियों, क्रांतिकारी नौजवानों और अन्य उत्पीड़ित हिस्सों को शामिल किया जाये ताकि पूंजीपति और ज़मींदारों के शासन पर काबू पाया जा सके।

उन्होंने हमें बतलाया कि शोषित हिस्सों को प्रचारों के माध्यम या पुस्तकों अथवा भाषणों के माध्यम से शिक्षित करने की उतनी ज़रूरत नहीं है जितना संघर्षों के अनुभव से जिससे कि उनकी वर्ग चेतना ऊंची उठे और वर्गों का गठबन्धन मजबूत बने ताकि वे क्रांतिकारी रूपान्तरण लाने में समाज को बदलने में समर्थ शक्ति बनें।

मार्क्स और उसके बाद लेनिन ने जो यह सब बतलाया वह स्वतः स्फूर्त ढंग से नहीं हो सकता है। स्वतःस्फूर्त विरोध या संघर्ष संगठन के प्रारंभ का सूचक है। पर इसे एक संगठित पार्टी के माध्यम से सचेत रूप से संगठित करना और आगे बढ़ाना होगा। ऐसी पार्टी, केवल कम्युनिस्ट पार्टी ही हो सकती है। जिसका आधार मज़दूर वर्ग और अन्य मेहनतकश जनता हो सकती है और दोनों के पास अपने तात्कालिक कार्यक्रम और अन्तिम लक्ष्य हैं।

यह कोई विशेषता नहीं है कि मज़दूर चाहे जो हो, वह जन्मजात क्रांतिकारी होता है। परन्तु उत्पादन प्रक्रिया में जो उसका स्थान है जिससे वह एक वर्ग के रूप में संगठित ढंग से और सामूहिक रूप में आसानी से कार्रवाई कर सकता है, और वह पूंजीवादी और उत्पीड़न के दूसरे रूप का विरोध करने वाले दूसरे हिस्सों को गोलबन्द कर सकता है।

भारतीय समाज में अधिकांश भाग खेत मज़दूरों और किसानों का है। जब तक भारतीय समाज के ये हिस्से किसी काम में भाग नहीं लेते तब तक कोई कार्रवाई नहीं हो सकती है और सामाजिक रूपान्तरण की बात तो सोची भी नहीं जा सकती। जब उन्हें जगाया जाता है और संघर्ष में शामिल किया जाता है तो वे दृढनिश्चय के साथ जुझारू ढंग से संघर्ष करते हैं और अकूत बलिदान करते हैं जैसा कि हमारे अपने आन्दोलन से यह बात सिद्ध होती है। आजादी के पहले और बाद के काल में किसानों द्वारा भूमि अधिग्रहण आन्दोलन को कौन भूल सकता है जो तेलंगाना, पुन्नप्रा-वायलार, तेभागा आदि के नाम से जाने जाते हैं। उनके संघर्षों को मजदूर वर्ग के संघर्षों के साथ सम्बद्ध करने से आन्दोलन को वांछित दिशा और शक्ति मिल सकती है।

आज कल मज़दूर वर्ग की भूमिका को नकारने यहां तक कि उसके ऐतिहासिक मिशन पर सवाल उठाने का फैशन हो गया है। यह कहा जा रहा है कि आज मज़दूर अपने संकीण स्वार्थों की चिन्ता में ही व्यस्त रहता है। कुछ लोग समकालीन समाज में कहते हैं कि भारत में खेत मज़दूरों और किसानों को अपनी जगह मिल गयी है। कुछ दूसरे लोगों का दावा है

कि केवल बुद्धिजीवी ही आज के ज़माने में नेतृत्व की भूमिका अदा कर सकता है आदि-आदि।

इस बात पर ज़ोर देने की ज़रूरत है कि मज़दूर वर्ग को लगातार हीन बताते रहने और सामाजिक आंदोलन में उसकी भूमिका की निन्दा करते रहने से दूसरे हिस्सों या वर्गों की भूमिका बढ़ती नहीं है।

पहली बात यह है कि इस बात पर लगातार ज़ोर दिया गया है कि मज़दूर किसान दोस्ती के आधार पर गठित शोषित और उत्पीड़ित वर्गों के संयुक्त गठबन्धन से ही यह संघर्ष अपने विजय के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

दूसरी बात – समाज के दूसरे हिस्से या वर्ग अपने संघर्ष को समाजवाद की विचारधारा से निर्देशित होकर और मजदूर वर्ग की पार्टी से सोद्देश्य नेतृत्व और सहायता पाकर विजय अभियान चला सकते है। अपने आप में जुझारू और ज़बर्दस्त संघर्ष पर्याप्त नहीं है। वे लड़ाई की तैयारी और लड़ने वालों की भावना अभिव्यक्त करते हैं। "विचारों" की भूमिका तथा सामाजिक विकास में उनकी नेतृत्वकारी और निर्देशनकारी शक्ति को नज़रअन्दाज़ नहीं करना चाहिए।

तीसरी और अन्तिम बात यह कि तथ्य स्वयं यह उजागर करते हैं कि मज़दूर वर्ग– अनेक हिस्से और दस्ते अलग-अलग और सभी मिल जुलकर आज अपने संकीर्ण हितों के लिए नहीं बल्कि देश के हितों को नुकसान पहुंचाने वाली और लोगों की जीविका रोजगार पर विपरीत प्रभाव डालने वाली सरकारी नीतियों के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन का नेतृत्व कर रहा हैं। उसकी इस पहल से दूसरे हिस्सों को जैसे खेत मज़दूर, किसान, छात्र, नौजवान और महिलाओं को गोलबन्द करने में मदद केवल एक बार ही नहीं मिली बल्कि विगत कुछ वर्षों में अत्यंत विशाल देशव्यापी कार्रवाईयों में कई बार मिली ।

यह बात मानी जा सकती है कि मज़दूरों के आन्दोलन में '**अर्थवाद**' है। ट्रेड यूनियनों का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वे मज़दूरों की मांगों के लिए लड़ें और इसी कारण तो उनका उद्‌भव भी हुआ है। लेकिन प्रस्थानबिंदु के तौर पर माँगों के लिये संघर्ष करते हुए ट्रेड यूनियनों और समूचे मज़दूर आंदोलन को आगे बढ़ना है और राजनीतिक मांगों और सामाजिक न्याय के लिये चलने वाले संघर्षों में शामिल होना है।

इस सबके बावजूद संगठित मज़दूरों की चाहे वे संगठित उद्योग में हों, निजी या सार्वजनिक क्षेत्र में हों, पूर्वव्यस्तता बहुत रहती है। यदि मज़दूर वर्ग को किसी बात पर ज़ोर देना है और अपने साथ गांवों और शहरों के ग़रीब लोगों को रखना है, तब सम्पूर्ण मज़दूर वर्ग को संगठित करना और संचालित करना होगा – कम से कम उनके बहुसंख्यक भाग को मज़दूरों का विशाल समुदाय जो संगठन के दायरे से बाहर है, उसे संगठन के दायरे में

लाना है।

यह मजदूर वर्ग के आन्दोलन और संगठन की कमज़ोरियां और खामियां हैं। पर वे इसी कारण मज़दूर वर्ग की भूमिका को नकारते नहीं हैं।

कभी कभी यह दलील दी जाती है कि संगठित मज़दूर ने विवेकसंगत रूप में ऊंचा जीवनस्तर हासिल कर लिया है और इसलिए इस बात पर भरोसा नहीं किया जा सकता है कि वह सड़कों पर उतर आयेगा और लम्बे अर्से तक जूझ सकेगा। संगठित मजदूर के जीवन स्तर के ऊंचा बने रहने की कोई सुरक्षा नहीं है जबकि असंगठित मज़दूर ग़रीबी की रेखा के इर्दगिर्द मंडरा रहे हैं और करोड़ों लोग बेरोज़गार हैं और उनके कारण अनेक समस्याएं उठती रहती हैं। कमज़ोर वर्ग के बन्धुओं को संगठित करने एकताबद्ध करने और लड़ने में लगातार उनका भाग्य सुधारने में सहायता कर ही इस समस्या को सुलयाझा जा सकता है।

प्रसंगवश यहां इसका उल्लेख करना दिलचस्प होगा कि मार्क्स ने अपने समय में मज़दूरों के जीवन स्तर में सापेक्ष सुधार के बारे में क्या कहा था। मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'वेतन, श्रम और पूंजी' में यह लिखा है – "हालांकि मज़दूरों के सुखोपयोग में वृद्धि हुई है पर उनमें पूंजीपतियों के बढ़े हुए सुखोपयोग की तुलना में गिरावट आयी है क्योंकि सामाजिक सन्तुष्टि अब कम हो गयी है। यह बात ध्यान देने की है कि सामान्य रूप में समाज के विकास की स्थति की तुलना में पूंजीपतियों के बढ़े सुखोपयोग मज़दूरों को अप्राप्य है। हमारी इच्छाएं और आनन्द समाज से अद्‌भूत होते हैं और हम इसी कारण उनको समाज से मापते हैं न कि उन वस्तुओं से जो उन्हें सन्तुष्टि देने का काम करते हैं। क्योंकि उनकी प्रकृति सामाजिक है, उनकी प्रकृति सापेक्ष है।"

ट्रेड यूनियन 'वर्ग संघर्ष के स्कूल हैं'। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से हमारे ट्रेड यूनियनों में वर्ग संघर्ष मुख्य रूप से आर्थिक संघर्ष तक सिमट गये हैं या यह माना जाता है कि यह उस हिस्से की आर्थिक बेहतरी की लड़ाई है जो उस ट्रेड यूनियन के दायरे में आते हैं। यह ट्रेड यूनियन सम्बन्धी भटकावहै और यह कहा जा सकता है कि उनकी शिक्षा अधूरी और एकपक्षीय है। इस लिए वर्ग संघर्ष इस परिस्थिति के अन्तर्गत आवश्यक बिन्दु तक गहन नहीं होता है और इसी कारण शेष मेहनतकश पर इसका असर नहीं होता था। इधर ज़िन्दगी ने इस आंशिक और अधूरे वर्ग संघर्ष को बदलने के लिए मजबूर किया है। साम्राज्यवादी हमले, नयी आर्थिक नीतियां, डंकेल प्रस्ताव और वह सब जो उससे उभर कर सामने आ रहा है, उस सबने इस आन्दोलन को बाध्य किया कि वह बुनियादी राष्ट्रीय-राजनीतिक मसलों को हाथ में ले। इसके बाद भी पिछड़ी और दलित जातियों का उदय, सत्ता में उनकी वाजिब भागीदारी की उनकी आकांक्षा, उनकी नयी-नयी दृढ़ता और नये आत्मविश्वास से राजनीतिक शक्तियां मंच पर नयी शक्तियां उभर कर सामने आयी हैं। यह जनतांत्रिक चेतना का विस्तार

है। परन्तु ऐसी पार्टियां और शक्तियां हैं जो अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए इसे जातिवादी रंग दे रही हैं। इतने लम्बे अर्से तक सत्ता पर जिनका वर्चस्व रहा है वे इस नयी घटना से भयभीत हैं और वे भी इसे बदनाम करने और निन्दित करने के लिए "**जातिवाद**" का हौवा खड़ा कर रहे हैं। इस स्थिति पर ध्यान दिये बिना हमारे देश की विचित्र स्थितियों में वर्ग संघर्ष आगे नहीं बढ़ सकता है।'

चूंकि वर्ग संघर्ष एक माध्यम है, सामाजिक रूपान्तरण का साधन है, अतः इसे आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और विचारधारात्मक मसलों को अपने में अवश्य समेटना चाहिए। आर्थिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष सामाजिक अन्याय के विरुद्ध ,तमाम विचारधारात्मक बहावों के विरुद्ध जो सामाजिक स्थिति को यथावत रखना उचित ठहराते हैं, संघर्ष को सम्बद्ध करना चाहिए। भारतीय पृष्ठभूमि में वर्ग संघर्ष के स्वरूप और तत्व में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

12

क्या वर्ग संघर्ष रूक गया है ?

गांधीवाद ने हमेशा वर्ग शांति और वर्ग सहयोग का प्रचार किया है और वर्ग संघर्ष की सर्वदा भर्त्सना की है। आज के ऐसे बुद्धिजीवी हैं (जो वामपंथी होने का दम भरते हैं) जो यह ज़ोरदार ढंग से कहते हैं कि आधुनिक युग में और विशेष रूप से भारतीय स्थितियों में वर्ग संघर्ष अप्रासंगिक हो गया है।

एक दलील यह है कि संसद से लेकर ग्राम पंचायत तक, जनतंत्र और बालिग़ मताधिकार ने वर्ग संघर्ष को अनावश्यक और बेतुका बना दिया है। बहुसंख्यक लोग, बहुजन यानी विशाल मेहनतकश जनता चुनाव के माध्यम से राजनीतिक सत्ता हासिल कर सकती है। इसी पर वे यह दलील देते हैं कि उसके बाद वर्ग संघर्ष की क्या ज़रूरत है। हम यहां पर गोली बनाम मतदान के विवाद में पड़ना नहीं चाहते। यह बात नक्सलियों के छोटे ग्रुप को कहना चाहिए। पर क्या मेहनतकशों के विशाल बहुमत को सर्व आत्मसाती वर्ग संघर्ष के बिना विभिन्न स्तरों पर, यहां तक कि राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करने के लिए जगाया जा सकता है ? मतदान प्रक्रिया और जनतांत्रिक संस्थान वर्ग संघर्ष को मिटा नहीं सकते। वास्तव में वे धनशक्ति और गुण्डा शक्ति की जनमत नियंत्रित करने और उसमें जोड़-तोड़ करने की संचार माध्यमों की शक्ति को उजागर करते हैं। वे उन तमाम साधनों को उजागर करते हैं जिनका उपयोग पूंजीपति और भूस्वामी जनसमुदाय को विभाजित करने और ध्यान बंटाने के लिए इस्तेमाल करते हैं। इसके साथ ही वे जन समुदाय को जाग्रत करने तथा राजनीतिक घटना-क्रम में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए व्यापकतर हिस्से को संगठित

करने में मदद करते हैं। वे मेहनतकश जनता को पूंजीपतियों, ज़मींदारों और उनके एजेण्टों के विरुद्ध अपनी ताक़त गोलबन्द करने का प्रचुर अवसर है। चुनाव और जनतांत्रिक संस्थान अपने आप में वर्ग संघर्ष के क्षेत्र हैं। यह एक कारण है जिससे कि कम्युनिस्ट इन संस्थानों का समर्थन करते हैं और जनतंत्र एवं जनतांत्रिक अधिकारों को और विस्तारित करने के पक्ष में हैं। लेकिन जैसा कि हम देखते हैं कि चुनाव की लड़ाई वर्ग संघर्ष का स्थान नहीं ले सकती है और न ही उसे अप्रासंगिक बनाती है।

यह दलील दी जाती है कि वैज्ञानिक और तकनीकी क्रांति ने वर्ग संघर्ष को अनावश्यक बना दिया है। घटनाक्रम ने इसे झूठा सिद्ध कर दिखाया है। यह बात न केवल भारत के लिए बल्कि पश्चिम के लिए भी सच है जहां वैज्ञानिक और तकनीकी क्रान्ति का अधिकतम असर पड़ा है। वैज्ञानिक और तकनीकी क्रांति ने वर्गों का उन्मूलन नहीं किया है। इसने निश्चय ही मज़दूर वर्ग की संरचना और चरित्र बदल दिया है। शारीरिक श्रम मानसिक श्रम में बदल गया। शारीरिक श्रम करने वाला मज़दूर भले ही मानसिक श्रम करने वाला मजदूर बन गया पर, यह प्रश्न बरकरार रहता है कि कालर को किसने पट्टे से बांध रखा है ? वैज्ञानिक और तकनीकी क्रांति ने शोषण को अधिक निर्मम और गहन बना दिया हालांकि उसका स्वरुप उलझनपूर्ण हो गया है। काम के घंटों में वस्तुतः कोई कमी नहीं हुई पर मज़दूर का शारीरिक और मानसिक तनाव बढ़ गया है। यह खबर आयी है कि जापान में अत्यधिक कार्यभार से (कारोशी) अनेक मज़दूर मरते हैं। इसके कारण बेकारी बढ़ी है, बेरोज़गारी बढ़ी है, अंशकालिक रोज़गार में और नौकरी की सुरक्षा में कमी आई है। जबकि बहुराष्ट्रीय निगमों और दूसरे निगमों के मुनाफे बहुत ज्यादा बढ़ रहे हैं। अन्तरविरोध गहन हुआ है और इसे समग्र पूंजीवादी जगत में पूरे ज़बर्दस्त और जुझारू संघर्षों में देखा जा सकता है। भारत में हम लोगों ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के निर्देशों पर संरचनात्मक समायोजन की नीति के दुष्प्रभावों को देखा है। वे नयी प्राविधिक क्रांति को जैसा कि विकासमान देशों में लागू किया गया है, प्रतिबिम्बित करते हैं। वर्ग संघर्ष इस कारण घटने की बजाय अधिक गहन हो गया है।

जब हम भारत के बारे में विचार करते हैं तो कुछ लोग यह प्रश्न पूछते हैं : क्या वर्ग और जाति विवाद खत्म नहीं हो गये, या वर्गों और वर्ग संघर्ष की भूमिका को बहुत अधिक घटा नहीं दिया है ? हमें इसकी छानबीन कुछ विस्तार के साथ करनी होगी ताकि संशय और ग़लत विचार दूर हो सकें तथा इस कारण भी कि जिससे अतीत में हुई गलतियों को सुधारा जा सके। इस जगह हमें यह कहना है कि जातीय विभाजन और विवाद, जातीय उत्पीड़न तथा जाति के नाम पर जो ज़ुल्म ढाये जा रहे हैं, इस सबके कारण इसकी ज्यादा ज़रुरत है कि वर्ग संघर्ष को जातीय असमानता, भेदभाव और उत्पीड़न के विरुद्ध चलाये जा रहे संघर्ष के साथ सम्बद्ध किया जाये। भारत की विशेष स्थितियों में वर्ग संघर्ष में एक नया आयाम जुड़ गया है। पर वर्ग संघर्ष न तो खत्म हुआ है और न ही उसका स्थान कोई ले सकता है।

13

वर्ग और जाति

हमारा जो उद्देश्य है उसके लिए यह ज़रूरी नहीं है कि हम भारत में जातिप्रथा के स्रोत और उनके क्रामिक विकास की तह में जायं। हम यह काम इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों पर छोड़ सकते हैं। मार्क्सवादी विद्वान और ग़ैरमार्क्सवादी विद्वान दोनों ही एक लम्बे अर्से में इस काम में लगे हुए हैं। **डॉ. बी.आर. अम्बेडकर** ने इस विषय पर पूरी प्रामाणिकता और तीव्रता के साथ लिखा है। ऐतिहासिक बहस का सिलसिला जारी है। लेकिन इन दिनों कुछ ग़ैर-दाननिशवर हज़रत, नस्ल, वर्ण और जात पर पूरी तरह राजनीति से प्रेरित होकर अनेक छदम वैज्ञानिक किताबों और लेखों के साथ सामने आये हैं। इस काम में खासतौर पर जो जुटे हुए हैं वे हैं हिन्दुत्व के अलम्बरदार जो कि कलाबाज़ी में मसरुफ हैं और अपने हमलावर हिन्दू पुनर्जागरण और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण तथा पिछड़े और दलितों के प्रति अपनी लफ्फाज़ी भरी चिंता के बीच सामंजस्य जुटाने का प्रयास कर रहे हैं। उनके वैचारिक गुरु श्री **गोलवलकरजी** ने अपने '**बंच ऑफ थाट्स**' (विचारों का गुच्छा) में ग़ैर ऐतिहासिक ढंग से दृढ़तापूर्वक कहा कि ऊंचे और निचले तबक़ों के बीच असमानता की भावना, जो कि वर्ण व्यवस्था से पैदा हुई है, तुलनात्मक ढंग से हाल ही की उत्पति है। गुरुजी वर्ण और जाति व्ययवस्थाकी प्रशंसा एक ऐतिहासिक भारतीय परिघटना के रुप में करते हैं जो कि मौजूदा दौर तक में भी प्रासंगिक है -- हो सकता है कि ऐसा तब हो जब उसकी कुछ विकृतियों का शुद्धिकरण कर और उसकी प्राचीन शुचिता को बहाल कर लेने के बाद। यह कैसे हो सकता है, कि पांडित्य से भरपूर गुरुजी ने हमारे महाकाव्यों में दर्ज **शम्बूक** और **एकलव्य** की कहानी न पढ़ी हो ? निश्चित ही, ये अलग-थलग पड़ी घटनाएं नहीं हैं, बल्कि एक ऐसी सामाजिक वास्तविकता को प्रतिबिम्बत करती हैं जो उतनी ही पुरानी हैं जितना कि हमारा इतिहास।

संघ परिवार के हिन्दुत्व के नारे का (जिसे अडवाणी जी ने अपने शुभंकर के रुप में घोषित कर रखा है) तकाज़ा है हिन्दू शक्ति अथवा हिन्दू पहचान-अर्थात 15 प्रतिशत अल्पसंख्यकों के खिलाफ 85 प्रतिशत आबादी की शक्ति।

लेकिन सभी रथ यात्राओं, एकता यात्राओं, रक्षा यात्राओं, बाबरी मस्जिद को ढहाये जाने उसी के साथ साथ खूनी दंगों, हत्याओं, और आगज़नी के लम्बे सिलसिले के बाद, चुनावों के जो नतीजे सामने आये उनसे यह पता चला कि भाजपा की यह सहज सोच बनी है कि हिन्दू एक अभिन्न (जो विभाजित नहीं किये जा सकते) अवाम हैं और उनकी हिन्दू पहचान के बारे में प्रचार करके उनके सभी तबक़ों को एक साथ जोड़ा जा सकता है। भाजपा ने उस तीखे अन्तर-विरोध को जो हिन्दू शक्ति के नारे और हिन्दू समाज के खंडित समाज के बीच मौजूद

है, या तो नज़रअंदाज़ करने की कोशिश की है या हल्के तौर पर लिया है। लेकिन इसमें उसे कामयाबी नहीं मिली है।

अब उनके एक नेता बड़े चौकस होकर "सामाजिक इंजीनियरिंग" की वकालत कर रहे हैं इस उम्मीद में कि "समूचे समाज की भलाई के लिए दलित शक्ति का उभार अंततः हिन्दुत्व की व्यापक पहचान में शामिल हो जायगा।"

सामाजिक इंजीनियरिंग अन्य इंजीनियरिंगों की तरह नहीं है – अर्थात जातियों और उपजातियों की समूची व्यवस्था जिसमें उनकी उच्चता और हीनता की भावना उनकी विशिष्टता, पूजा पद्धति की शुद्धता और अशुद्धता, छुआछूत इत्यादि की भावना सन्निहित है, को न यह जोड़ सकती है, न पक्का कर सकती है। यह इंसान के ज़ेहन में और कुल मिलाकर समाज में एक ऐसी क्रांति का स्थान नहीं ले सकती है जो जाति प्रथा का खात्मा करेगी और एक वाजिब सामाजिक समानता क़ायम करेगी। यह ब्राह्मणवादी प्रभाव की छतरी तले दलितों और पिछड़ों समेत सभी को एक जगह गोलबन्द करने का छद्म प्रयास है।

जो बिल्कुल स्पष्ट है और जिसे एक कठोर सामाजिक वास्तविकता के रुप में ध्यान में लिया जाना है वह है, उत्पादन सम्बंधों पर आधारित वर्गीय विभेदीकरण के अलावा, भारत में जाति विभाजन– अर्थात जातियों और उप-जातियों की एक व्यवस्था जो पिछली कई सदियों से चली आयी हैं।

जैसा कि हमने नोट किया है कि वर्ग एक धर्मनिरपेक्ष सामाजिक आर्थिक उत्पत्ति है। इसके अंदर आंतरिक गतिशीलता है। आज जो एक मज़दूर है, अथवा मज़दूर-परिवार में पैदा हुआ है, वह कल एक पूंजीपति बनने अथवा पूंजीपति का मैनेजर बनने की आशा कर सकता है। जहां तक मध्यमवर्ग का सम्बन्ध है तो वहां उच्च स्तर पर हमेशा एक परत ऐसी होती है जो लगातार सीढ़ियाँ चढ़ने का जी तोड़ प्रयास करती है और पूंजीपति बन जाती है। निचली सतहों पर कुछ अन्य ऐसे होते हैं जो श्रमिक कतारों को निगलने की खातिर सीढ़ी को नीचे फेंक देते हैं। यहां वंशानुगत कुछ भी नहीं है सिवाय इसके कि मज़दूर परिवार में पैदा हुए बेटे को, जो बंधन के तहत काम शुरु करता है, अवसर अवश्य मिल जाते हैं और वह शालिबल मजदूर ही बना रहता है, अमीरों के आलसी बेटे, जिन्हें विरासत में बाप दादों की मिल्कियत हासिल होती है, और वे उसे भोगना जारी रखते हैं, तब तक जब तक कि उनके बीच मुनाफों और फिजूल खर्ची के सवाल पर झगड़े नहीं शुरु हो जाते।

यह सम्भव है कि धुंधले अतीत में जाति का प्रादुभार्व सामाजिक आर्थिक कारणों से हुआ होगा। इसके साथ ही वंशगत कुल और आदिवासी तत्व भी सामान्यतया ऐसे समाज में घुलमिल जाते हैं और धीरे-धीरे जातिप्रथा के अन्तर्गत विशिष्ट हैसियत के साथ जातियों में रुपान्तरित हो जाते हैं। ऐसी भी जातियाँ और उप जातियाँ है जो वर्णशंकट हैं। (वर्णसंकर के

कारण ही कई जातियों और उपजातियों का गठन हुआ) आर्य द्रविड़ और अन्य प्राचीन मूल के लोगों के बीच लड़ाइयों के सिलसिले में अनेक जातियाँ गठित हुयीं जो अपने देवताओं धार्मिक रीतिरिवाज़ों के साथ जाति व्यवस्था में आत्मसात कर ली गयी और इन लड़ाइयों के परिणाम के आधार पर जातिव्यवस्था के अन्तर्गत उनकी हैसियत तय की गयी। ऐसे आदिम लोग और कुल ये जो पराजित किए गए और कुचल दिए गए और पंचनामे के तहत उन्हें अस्पृश्य बना दिया गया तथा उन्हें घृणित कार्य सौंपे गए और उन्हें तमाम सुविधाओं से वंचित कर दिया गया।

उनका पहले उद्‌भव चाहे जिस कारण से हुआ हो, या जिस रूप में हुआ हो परन्तु इस विभाजन का धर्म शास्त्रों द्वारा वैध और धार्मिक करार दिया गया और उनके ईश्वरीय विधान के कारण उनके उत्पन्न होने की बात पर धर्म का (जातीय कर्तव्य का) ठप्पा लगा दिया गया, जिसमें वंशगत रुप से उनकी हैसियत निर्धारित की गयी तथा जन्म से उसे स्वाभाविक रुप से श्रेष्ठ या हीन करार दिया गया और जाति की हैसियत के अनुपात में धर्म के उल्लंघन की प्रतिलोम क्रम से सज़ा निर्धारित की गयी अर्थात् ऊंची जाति के लिए कम सज़ा व नीची जाति के लिए अधिक सज़ा का निर्धारण किया गया।

इन कारणों से जाति न केवल वंशगत है वरन् इसमें सजातीय विवाह होने आवश्यक हैं। जाति में फेर बदल सम्भव नहीं है और न ही दो जातियाँ जुड़ सकती हैं। यदि जातियों का उद्‌भव व आधार सामाजिक आर्थिक भी है तो यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक उपजाति का कोई पेशा ही हो। खेती बारी और उद्योग के विकास के दौरान लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर बसने लगे। गाँव और शहर के लोग आपस में मिल-जुल गये तथा उनमें अनेक लोग अपने पेशे से बंधे नहीं रहे। परन्तु जो कुछ बचा वह लोगों के दिमाग़ पर छाया रहा वंशानुगत हैसियत की चेतना छायी रही और वह इस प्रकार बचा रहा मानो ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट हो।

इसलिए जाति और वर्ग समानार्थक नहीं है। वर्ग के नए स्तरीकरण का आधार धर्म निरपेक्ष गुण धर्म है। जाति प्रथा को अपने श्रेणीबद्ध और वंशगत गुण धर्म को धार्मिक रुप से संपुष्ट किया गया है। वर्ण विभाजन के साथ जो बात शुरु हुयीं वह शोषण मूलक समाज के विकास के दौरान जाति व्यवस्था के रुप में फैल गयी।

बाबा साहब अम्बेडकर ने अक्सर इस बात पर ज़ोर दिया है कि जाति को अपने आप में एक अलग इकाई के रुप में नहीं समझा जा सकता। वरन् इसे समग्र रुप में जाति व्यवस्था के निश्चित सम्बन्धों के साथ और उसके अन्तर्गत समूह के रुप में माना-जाना चाहिए।

बाबा साहेब अम्बेदकर ने अपनी पुस्तक "जाति का विनाश" में इस सम्बन्ध में लिखते हुए यह रेखांकित किया कि विधवा विवाह बाल विवाह आदि के लिहाज़ से समाज सुधार तथा जाति प्रथा के उन्मूलन के लिहाज़ से समाज सुधार के बीच में बहुत अन्तर है। परन्तु बाबा

साहेब अम्बेदकर की समझ बिल्कुल साफ थी कि यह उच्चजाति के कुछ व्यक्तियों के खिलाफ संघर्ष नहीं है वरन् यह तो एक सामाजिक संघर्ष है।

जब उनके नेतृत्व में महाद सत्याग्रह आरम्भ हुआ था तो "ब्राहणेतर आन्दोलन" के (अर्थात ग़ैर-ब्राह्मण) के एक प्रमुख नेता "केशवराव जेधे ने डा. अम्बेडकर के साथ ब्राहमणों की उपिस्थिति की विरोध किया। इसका उल्लेख करते हुए डा. अम्बेडकर ने अपनी पत्रिका "वहिष्कृत भारत में कुछ इस प्रकार कड़ा जवाब दिया था: "मैं श्री जेधे और जावलकर द्वारा प्रस्तावित शर्त से कभी सहमत नहीं हो सकता हूं। मैं यह घोषित करना चाहता हूं कि, हम लोग ब्राहमणों के विरुद्ध नहीं है। हम ब्राह्मणवाद के विरुद्ध है। हमारे शत्रु भी ब्राह्मण नहीं है वरन् वे हैं जो ब्राह्मणवाद की भावना ग्रस्त हैं/ इस दृष्टकोण से प्रेरित होने पर हम अपने को उन ग़ैरब्राह्मणों से अलग पाते हैं जो ब्राहमणवाद के शिकार हैं और उन ब्राह्मणों के निकट हैं जो ब्राहमणवाद का परित्याग कर चुके हैं।".....

बाबा साहेब अम्बेदकर ज्योतिबाफूले को अपना गुरु मानते थे और वह इससे भी ज्यादा साफ-साफ कहने वाले थे तथा अनेक ब्राहमण उनके सहयोगी थे एवं संघर्ष में उनकी मदद कर रहे थे। उन्होंने शोषकों और शोषितों के लहज़े में इसकी चर्चा की और "शेतकरी", अदानी (अपढ़) और कुछ पेशागत जातियों को शोषितों की श्रेणी में गिना। उनका आन्दोलन सत्य शोधक आन्दोलन था। जो जाति के विरुद्ध जाति का आन्दोलन नहीं था।

यदि हम इतिहास पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि, जाति और जाति प्रथा एक प्रकार से सभ्य समाज के अर्थ में लिया जाता है जो राजनीतिक समाज "राज्य के अर्थ में"– से बिल्कुल भिन्न है। एक अर्थ में इस सभ्य समाज में आक्रमणों और विजयों की उठती लहरों से जन समुदाय को पूरी तरह अलग करके रखा गया। हालांकि भारत उस समय इस लहर की चपेट में था लेकिन यह जन समुदाय इस बात से उदासीन रहा कि कौन शासक बनता है और कौन सा वंश राज्य करता है।

एक असाधारण कम्युनिस्ट नेता **गामसी** ने अपनी **"जेल की डायरी"** में सभ्य समाज की अवधारणा को स्पष्ट रुप से इस प्रकार बतलाया– "राज्य मात्र एक बाहरी खाई है जिसके पीछे दुर्गों और मृदा बाँधों की शक्तिशाली व्यवस्था है"। ग्रामसी उन दिनों फासिस्ट इटली की जेल में सड़ रहे थे। जब हम इस सभ्य समाज को बदलने का प्रयत्न करते हैं तो यह आवश्यक है कि अलग अलग देशों की सही सही खोजबीन की जाय।

यहाँ भारत में व्यक्ति की जाति, व्यक्ति की सुरक्षा का भी कार्य करती है। वह रोज़गार देने, अपंगता और मृत्यु के समय सुरक्षा प्रदान करने तथा जन्म और मृत्यु सहित तमाम सामाजिक अवसरों पर बिरादरी के रुप में सामने आती है। समाज का अर्थ जातिबद्ध समाज हो गया है। इस कारण जाति और जाति प्रथा अधिक सरल अनुदार और टुकड़ों-टुकड़ों में

विभाज़ित हो गयी है। यह परिवर्तन और प्रगति की राह में बाधक बन गयी है।

औद्योगिक विकास के कारण श्रम का नया सामाजिक विभाजन हुआ है। इसने शोषितों का संपतिहीनों व सर्वहारा का नया वर्ग निर्मित किया है जो पूर्ववर्ती जाति, गुण व धर्म से आबद्ध नहीं है वरन् उत्पादन के साधनों के स्वामियों के विरोध में नये सम्बन्धों से आबद्ध हैं।

विशाल ग्रामीण क्षेत्र में भी कृषिजीवन में गहन परिवर्तनों के कारण युगों पुरानी जाति संरचना ढह रही है, विशेषतः भू-वितरण और सत्ता के विकेन्द्रीकरण के कारण ही यह सब हो रहा है हालांकि यह कार्य आंशिक और अधूरे रुप में किए जा रहे हैं। इसमें भूमिहीनों की चारित्रिक विशेषता को भी बदला है। पहले यह जजमानी सम्बन्ध हो गया है।

प्रसंगवश यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जातिप्रथा का इतिहास यह बतलाता है कि जाति, श्रेणीगत स्तर पर, उच्चतर हैसियत के कारण ही केवल अपनी सापेक्षित श्रेष्ठता नहीं मनवा सकती है जब तक कि वह आर्थिक शक्ति से सम्पन्न नहीं हो और राजनीतिक सत्ता द्वारा परिपोषित नहीं हो। यह बात विशेषतः निचली जातियों पर लागू होती है। जिन्हें उत्पीड़न के बोझ को दूर करना है क्योंकि वे सदियों से आर्थिक व राजनीतिक सत्ता से संचित रहे हैं।

आजकल उनमें जो जागृति आ रही है वह बुनियादी रुप में जनतांत्रिक है। आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का पुर्नवितरण हो रहा है।

ऐसे कुछ लोग आज भी हैं जो यह कहते हैं कि गांवों में फटेहाल ग़रीब से ग़रीब ब्राह्मण आज भी हैं जो उसी गांव के धनी बनिया के मुक़ाबले अपने आपको श्रेष्ठ मानते हैं। किन्तु यह बात समझनी चाहिए कि आज की कठोर दुनिया में इस आधार पर कार्य नहीं चलता है कि कोई व्यक्ति अपने बारे में क्या सोचता है या फिर अपनी खोई गरिमा को किस प्रकार बरकरार रखना चाहता है।

औद्योगिक और कृषि विकास के कारण अनेकानेक मसले उठ खड़े हुए हैं जिनके कारण शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ग संघर्ष होते है। परन्तु बहुत से मामलों में ऐसे विवाद एक प्रकार की मिथ्या अवधारणा से ढक दिये जाते हैं। और अनजाने रुप में उसका ऐसा अर्थ लगाया जाता है जो उनके वास्तविक लक्ष्य को सामाजिक स्वीकृति प्रदान करता है।

यह किस प्रकार का संघर्ष है जब कि किसी गांव के भूमिहीन जिसमें बहुसंख्यक दलित लोग हैं, किसी उत्पीड़क ज़मींदार के (वह चाहे ऊंची जाति का हो या पिछड़ी जाति का) विरुद्ध ज़मीन आवास स्थल, वेतन और आत्मसम्मान के लिये लड़ता है ? साफ बात है कि यह एक प्रकार का वर्ग संघर्ष है। परन्तु संघर्षरत दोनों पक्षों की मिथ्या अवधारणा में और दूसरे हिस्सों के बीच सामान्य प्रचार के संदर्भ में इसे जाति संघर्ष बताया जाता है।

कुछ दूसरे अगल-बगल के गांवों में ऐसे भूमिहीन सम्मिलित हो सकते हैं जिनमें कई

जातियों के लोग दलित और ग़ैर दलित और ऊंची जातियों के गरीब लोग शामिल हो सकते हैं। तब क्या होता है ? अल्पसंख्यकों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है और उन्हें विश्वास दे सकता है। हमें इस उभरती हुयी नयी ताक़त के साथ तालमेल रखना चाहिए और उनके बीच वामपंथ का प्रभाव प्रसारित करना चाहिए तथा उन्हे वामपंथियों की ओर लाना चाहिए जो शोषण और उत्पीड़न के सभी रूपों के मसीहाओं के विरुद्ध सुसंगत रूप से संघर्ष करने वाले लोग हैं। हम लोग इस संघर्ष में नये स्वघोषित मसीहाओं से बहुत पहले से हैं। हमें निहित स्वार्थी तत्वों की उन सभी कोशिशों को नाकाम करना चाहिए जो इस उभार को जातिवादी रंग देना चाहते हैं। हम कम्युनिस्टों ने ग्रामीण क्षेत्रों के ग़रीबों में वर्ग चेतना जगाने और वर्ग एकजुटता क़ायम करने के लिए (अथक) घोर श्रम किया है। हम इसे जातीय भावना से ग्रस्त होने देना नहीं चाहेंगे क्योंकि उससे न केवल इसकी एकजुटता ही नष्ट होगी वरन उससे इस आन्दोलन का मूल अर्थ भी विपरीत हो जाएगा।

हमें पूंजीवादी विकास के तर्क को ध्यान में रखना चाहिए। यह अधिकाधिक स्वजातियों के अर्न्तगत स्तरीकरण और विभिन्नताएँ ला रहा है। आज ऐसी जाति मुश्किल से ही ढूंढने पर मिलेगी जो आर्थिक रूप से एक रूपीय हो और एक मात्र अपने वंशगत पेशे में संलग्न हो।

निचली जातियों और आदिवासी जातियों में मध्यम वर्ग उभर आया है - कुछ मामलों में अधिक व कुछ में कम। हालांकि कोई बुर्जवा वर्ग अभी नहीं उभरा है। पिछड़ी जातियों की स्थिति में थोड़ा अन्तर है। कम से कम कुछ जातियों के अन्दर मज़बूत ग्रामीण बुर्जवा वर्ग उभर आया है और इस बात के भी प्रमाण है कि उनके बीच औद्योगिक और व्यावसायिक बुर्जवा वर्ग भी निकल रहा है। दूसरी ओर तथाकथित ऊंची जातियों के कुछ हिस्से बहुत ग़रीब हो गए हैं। वे अब निचली जातियों के लोगों के साथ खेतों और कारखानों में कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने के लिए बाध्य है।

जब यह कहा जाता है कि सभी शोषक ऊंची जातियों के लोग हैं तथा सभी शोषित निचली जातियों-पिछड़ी और दलित जातियों के लोग हैं तो यह अति सरल और विकृत दृष्टिकोण है। इस तरह का सरल दृष्टिकोण समाज में और प्रत्येक जाति में हो रहे अन्तर का लेखा नहीं लेता। इसमें कोई शक नहीं कि अधिकांश दलित लोग खेत मज़दूरों की पंक्ति में है पर उनमें दूसरे हिस्सों के लोग भी काफी हैं। इसी प्रकार अधिकांश ऊंची जातियों के लोग शोषक नहीं है क्योंकि उनमें कुछ ही लोग पूँजीपति बन सकते हैं, भूपति बन सकते हैं या उनके प्रबंधक सुपरवाइज़र बन सकते है।

यह सच है कि दलितों और पिछड़ी जातियों के नौजवानों में जो नयी चेतना आयी है उसके कारण उनमें आत्मसम्मान की भावना जागी है ताकि वे पूरे जोश के साथ यह कह सकें

कि वे भूख बर्दाशत कर सकते हैं पर अपमान नहीं।

जहाँ तक ग्रामीण क्षेत्रों में ऊंचे हिस्सों में शोषक समूह का सम्बन्ध है तो वे निचली जातियों के आत्मसम्मान के विरुद्ध जवाबी हमला करने का प्रयत्न कर रहे हैं। जिसमें वे निचली जातियों की महिलाओं पर हमला करते हैं उन्हें अधिकाधिक निवस्त्र करते है क्योंकि वह अपमान का चरम बिन्दु है। वामपंथी पार्टियों और कम्युनिस्टों के नेतृत्व में चलने वाले वर्ग संघर्ष को हर प्रकार के उत्पीड़न के विरुद्ध प्रतिकार और कारगर रुप से हस्तक्षेप करना चाहिए।

शोषित वर्गों का संघर्ष जातीय अन्याय-भेदभाव और पूर्वाग्रहों के विरुद्ध साथ-साथ लड़ाई लड़े बिना आगे बढ़ नहीं सकता है। प्रत्येक जाति का ऊपरी तबक़ा अपने जातीय भाइयों को गोल बन्द करता है और उन्हें अपने हित में प्रयोग करता है। इसी कारण विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ग संघर्ष को समानता एवं सामाजिक न्याय तथा जातीय उत्पीड़न के विरुद्ध चल रहे संघर्ष के साथ सम्बद्ध करना होगा।

वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष शोषित जन समूह के सभी हिस्सों को उनके शोषकों के विरुद्ध एकताबद्ध करता है। परन्तु जातीय चेतना और जातीय संघर्ष समान्यतयाः शोषित जन समूह को जाति की बुनियाद विभाजित करता है जबकि वह शोषकों के विरुद्ध लड़ने का दावा करता है।

14

जातिवाद के खिलाफ संघर्ष

पहले के दिनों में जातीय उत्पीड़न और अन्याय को कम करके देखने और आर्थिक तथा राजनीतिक संघर्ष को अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति हमारे अंदर रही है। जिन क्षेत्रों में सामन्ती और अर्ध-सामंती अवशेषों का असर है, वहाँ वर्ग संघर्ष तथा कम्युनिस्ट आन्दोलन के विकास में इसने काफी नुकसान पहुँचाया है।

इसमें कोई दो राय नहीं है, कि औद्योगिक विकास और खेतिहर परिवर्तनों ने ज़ात-पात की व्यवस्था को बुरी तरह से झकझोर दिया है। पर इनके प्रभाव से यह व्यवस्था अपने आप नहीं ढहेगी। परम्परा, धार्मिक कर्मकाण्ड, सामाजिक रीति-रिवाज़ जैसे अनेक कारणों से ज़ात-पात की भावना लोगों के दिमाग़ को जकड़े रहती है। यहाँ तक कि एक मज़दूर भी, जो हर रोज़ आठ घण्टे तक कारखाने के अन्दर दूसरी ज़ाति के लोगों के साथ मिलजुल कर काम और संघर्ष करता है, जब घर लौटता है तो उस जातीय बिरादरी में शामिल हो जाता है। जो उसके सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण घटनाओं को नियंत्रित करती है।

इसलिये ज़ात-पात की सोच पर विजय पाने और ज़ातिवाद को खत्म करने की लड़ाई एक बहुत ही लम्बे समय तक चलने वाली लड़ाई है। यह लड़ाई वैचारिक, सामाजिक और राजनीतिक-तीनों धरातलों पर लड़ी जाती है। ज़ात-पात के भेदभाव और ज़ातीय उत्पीड़न को नज़रअंदाज करने और वर्ग संघर्ष को आर्थिक-राजनीतिक मांगों तक सीमित कर देने से समाजवाद के लिये लड़ाई कभी भी आगे नहीं बढ़ सकेगी।

मेहनतकशों की एकता की लड़ाई दूधारी है। एक तो ज़ात-पात के भेदभाव को खत्म करके आरक्षण, भूमि सुधार शिक्षा का सुविधा, स्व-रोज़गार के लिये आसान क़र्ज़, सबके लिये हर गांव में पीने का पानी, जैसे क़दमों को उठाकर नीचे की ज़ातियों को दूसरों के बराबर लाने की लड़ाई और साथ ही सम्मिलित वर्ग तथा जनसंगठनों एवं समान उद्देश्यों के लिये एकताबद्ध संघर्षों, इत्यादि पर ज़ोर देना। हमें इस प्रकार की वर्ग-एकता को ज़ाति या सम्प्रदाय के आधार पर तोड़ने की हर कोशिश का डट कर मुक़ाबला करना होगा।

हमें इस बात पर ग़ौर करना है कि जब साम्राज्यवाद तथा पूंजीवाद के हमलों और सरकार की नीतियों के खिलाफ अधिक से अधिक संयुक्त कारवाई और ट्रेड यूनियन एकता तथा सहयोग का प्रयास चल रहा है कुछ लोग योजनाबद्ध ढंग से ज़ाति और सम्प्रदाय के आधार पर इसे तोड़ने में लगे हुए हैं।

समाजवादी विचारधारा में अन्तर्निहित मानवतावाद और भाईचारा तथा सभी तरह के शोषण और अन्याय से मुक्ति की बातों के साथ-साथ हमारे इतिहास में भी सामाजिक बराबरी, ज़ातीय घृणाभाव तथा ऊंची जातियों द्वारा नीची ज़ातियों के दमन के खिलाफ ढेर सारी शिक्षाएँ मौजूद हैं। हमें **कबीर, चैतन्य, रामानुज, वसवेश्वर, नामदेव, गुरुनानक** और दूसरे सन्तों और समाज सुधारकों के ऐसे विचारों को सामने लाना होगा और उन्हें अपने संघर्ष में इस्तेमाल करना होगा। उनका धार्मिक रूप हर एक के लिये नहीं भी हो सकता है, पर उनमें अन्तर्निहित मानवतावाद सभी को आकृष्ट ज़रूर करेगा। आधुनिक काल में पेरियार, ज्योतिबा फूले, अम्बेडकर और अन्य महापुरुषों से भी हमें बहुत कुछ लेना है। हालांकि उनके अनुयायी होने का दावा करने वाले कुछ लोगों ने उनके विचारों के जनवादी और मानवतावादी सार में ढेर सारी विकृतियां पैदा कर दी हैं।

हमें जातिवाद के खिलाफ और वास्तविक सामाजिक सुधार के लिये संघर्ष में तरह-तरह के भ्रम पैदा करने वालों और उसे धुंधला कर देने वालों से डट कर मुक़ाबला करना होगा। इस मामले में मुख्य अपराधी संघ परिवार है। मिसाल के तौर पर सिविल कोड का मसला लिया जाय। यह इतिहास का तथ्य है कि उन्होंने **हिन्दू कोड बिल** का जमकर विरोध किया, जिसे डा0 अम्बेडकर लागू करना चाहते थे। तब आर.एस.एस. के भोंपू **आर्गनाइज़र** ने लिखा

:"हम हिन्दू कोड बिल का विरोध करते हैं। इसलिये कि यह विदेशी तथा अनैतिक सिद्धान्तो पर आधारित निम्न कोटि का क़ानून है।" 1980 में **के.आर. मलकानी** को अपनी पुस्तक "**आर. एस. एस. स्टोरी**" में कहना पड़ा - "जब हिन्दू कोड बिल पारित हुआ (?) तब उन्होंने (गुरु गोलवालकर ने) इसकी अवधारणा का विरोध किया। उन्हें इस बात की कोई वजह नही दिखी कि क्यों हिन्दू कानूनों को मनुस्मृति से उसके प्राचीन रिश्तों से तोड़ा जाय।" इसलिये उनकी हाल की चिकनी-चुपड़ी बातों का भण्डाफोड़ ज़रूर होना चाहिये।

पार्टी को इस सिद्धान्त को सख्ती से लागू करना होगा कि कोई भी पार्टी सदस्य, चाहे वह किसी भी ज़ाति का हो, अपनी जाति के अन्दर शोषक तत्वों का विरोध करने में कोई हिचकिचाहाट न दिखाएं। नीची समझी जाने वाली ज़ाति के प्रति किसी भी प्रकार का अपमान, जानबूझ कर ठेस पहुँचाना या उन्हें नीचा दिखाने की किसी भी कोशिश को बर्दाश्त नहीं किया जाना चाहिये।

ट्रेड यूनियनों को अनुसूचित ज़ाति, अनुसूचित जनज़ाति तथा पिछड़ी जातियों के आरक्षण और पदोन्नति सम्बन्धी न्यायपूर्ण मांगों के लिये भी आगे बढ़ कर लड़ाई लड़ना होगा। हमें इस बात को भी लोगों के बीच स्पष्ट करना होगा कि सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण के दरअसल आरक्षण की संभावना कम हो जाती है। इसी प्रकार छंटनी और नई भर्ती पर रोक से भी लोग इस सुविधा से वंचित हो जाते हैं।

आज हमारे सामने समस्या मार्क्सवाद-लेनिनवाद को भारतीय परिस्थिति में ठोस रूप से लागू करने, उसे विकसित करने, आज की ज़रूरतों के मुताबिक़ बनाने और उसके नवीनीकरण की है। कुछ लोग अपनी ग़लतियों को कभी नहीं मानते। लेकिन हमें अपनी कमियों और ग़लतियों का ज्ञान ज़रूर होना चाहिये। हम आज एक और अधिक मानवीय और न्यायपूर्ण समाज के लिये मानवता के और भारतीय जनता के संघर्ष के एक खास और बहुत ही जटिल दौर से गुज़र रहे हैं। हमारा समाजवादी भविष्य हमारे संघर्षों से ही पैदा होगा। वर्तमान दुनिया की पृष्ठभूमि में पर उस पर भारतीय विशेषताओं की मुहर ज़रूर लगी होगी।